Shree Nisargadatta Samadhi Charitable Trust, Mumbai
श्री निसर्गदत्त समाधी चॅरिटेबल ट्रस्ट, मुंबई द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक

NISARGAVAANI
निसर्गवाणी ನಿಸರ್ಗವಾಣಿ निसर्गबानी

वर्ष २ रे अंक : ३ रा (जानेवारी ते मार्च २०२६) Year 2nd Issue 3rd (January - March 2026)

ZERO EVERYTHING IS NOTHING

श्री सद्गुरू रणजित महाराज

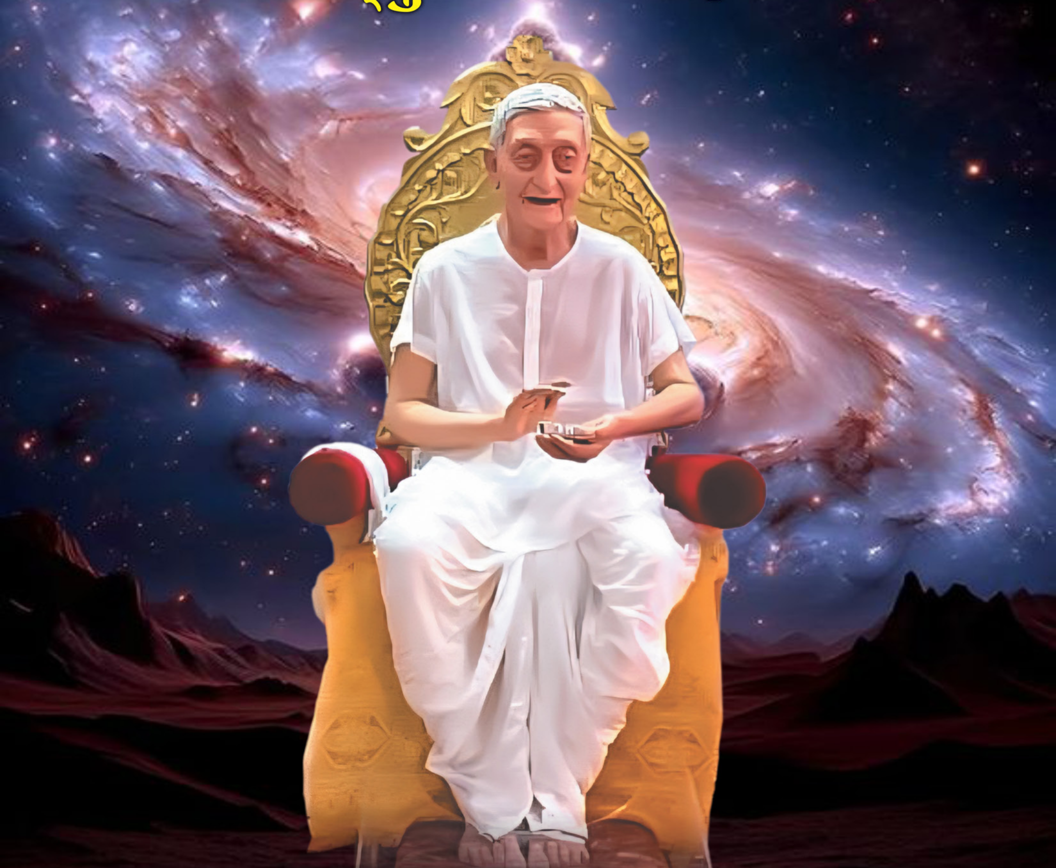

दिसणारे जग खरे मानल्यामुळेच मन तुमच्यावर राज्य करते.
जगत म्हणजे जे गेलेले आहे, म्हणजे जे नाहीच ते! तुम्ही काही तरी
होऊनच कर्म करता, स्वतःला काहीच मानले नाही तर!!
तेच अज्ञान अखख्या जगाला टेकू आहे... मनाचा!!

संपादक

डॉ. धीरज सर्वज्ञ : +91 9881314214

विजया नाझरे : +91 9403707936 **स्मिता थोरात : +91 8698863395**

तुषार नाईक : +91 8369105437 / 982188356

मुखपृष्ठ रचना: भरतभाई शिंपी, जळगाव

लेआउट डिजाइन

झेन प्रकाशन, मुंबई (निसर्गवानी टीम इनपुट अनुसार)

वेबसाईट: www.nisargdattasamadhi.in

ईमेल: nisargadattasamadhitrust2025@gmail.com

लेखों के लिए अपील

चूँकि कोई भी पत्रिका संभावित लेखकों के लेखों पर निर्भर करती है, हम आप सभी से हमें लेख भेजने की अपील करते हैं। आत्मज्ञान सभी धर्मों, जाति और पंथ से परे है। इस पहलू को याद करते हुए निसर्गवाणी में न केवल श्री निसर्गदत्त महाराज द्वारा वर्णित आत्म-ज्ञान से संबंधित विषयों की एक विस्तृत श्रृंखला होगी, बल्कि विभिन्न संतों की आत्म-ज्ञान की शिक्षाएं, उनके तरीकों के अभ्यास से संबंधित अनुभव, जीवनी, शिक्षाएं, अन्य आध्यात्मिक गुरुओं द्वारा सिखाए गए तरीकों के अभ्यास से संबंधित अनुभव, हिंदू धर्म के अलावा अन्य धर्मों की शिक्षाएं और कहानियां, पवित्र ग्रंथों और छंदों की व्याख्या, आध्यात्मिक यात्रा और अंतर्दृष्टि, कविता और निश्चित रूप से हमारे योग्य पाठकों से प्रतिक्रिया भी शामिल होगी। हमारा दृढ़ विश्वास है कि आध्यात्मिकता का अपने आप में एक व्यापक और विविध आवरण पहलू है।

सुझाव

एक दिशानिर्देश के रूप में, हम अनुरोध करते हैं कि जहां तक संभव हो लेख छोटे (लगभग 750 शब्द) मध्यम (लगभग 1500 शब्द) या लंबे प्रारूप (लगभग 2300 शब्द) में होने चाहिए

कृपया अपना योगदान भेजें

through email to

nisargavaani240125@gmail.com

संपादकीय

श्री निसर्गदत्त महाराज और जिद्दु कृष्णमूर्ति

शतकों से चली आ रही भारतीय आध्यात्मिक परंपरा मूलतः बाहरी आचार–विचार, लौकिक अनुष्ठान और ईश्वर से संबंधित अवधारणाओं से भरी हुई दिखाई देती है। लेकिन इसी परंपरा के केंद्र में कुछ ऐसे तेजस्वी बिंदु भी हैं, जो सभी धार्मिक चौकटीयों से आगे जाकर आंतरिक सत्य के प्रत्यक्ष अनुभव पर ज़ोर देते हैं। बीसवीं शताब्दी में ऐसे ही तेजस्वी बिंदुओं में दो नाम सबसे अधिक चमकते हैं – श्री निसर्गदत्त महाराज और जिद्दु कृष्णमूर्ति।

एक – मुंबई में छोटी-सी बीड़ी की दुकान चलाने वाला, प्रथम दृष्टि में साधारण और लगभग जर्जर से वातावरण में रहने वाला व्यक्ति; और दूसरा – एक विश्वस्तरीय संस्था के संस्कारों में गढ़ा गया, दर्शन, मनोविज्ञान, शिक्षा और मानव-चेतना का वैश्विक स्तर पर अध्ययन करने वाला एक विश्व नागरिक! पृष्ठभूमि, भाषा, संदर्भ और बाहरी परंपराओं में ये दोनों वास्तव में एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होते हैं। लेकिन ज्ञान का केंद्र दोनों के लिए एक ही है – अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानना और मन की कल्पनाओं के आवरण से मुक्त होना।

उनकी शिक्षाओं में जो समानता है, वह केवल शब्दों की समानता नहीं है; वह समानता अनुभव के स्तर पर है। यह अनुभव है –“अहंकार रहित निरीक्षण” और “स्वरूप की तत्क्षण जागरूकता” दोनों ही यह कहते हैं कि सत्य किसी सिद्धांत, पंथ या दार्शनिक स्थापना का विषय नहीं है, बल्कि यह प्रत्यक्ष देखने और अनुभूति का विषय है।

यदि हम दोनों की शिक्षाओं में गहराई से उतरकर देखें, तो उनकी भाषा, दार्शनिक दिशा, पद्धति और आध्यात्मिक दृष्टि में मौजूद सूक्ष्म समानताएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। यह समानता बाहरी दर्शन में नहीं है; बल्कि उनकी शिक्षाओं की ध्वनि, उनकी तत्क्षणता, उनके अनुभवात्मक आह्वान और आत्मस्वरूप की खोज में है।

जिद्दु कृष्णमूर्ति और निसर्गदत्त महाराज – दोनों की शिक्षाओं में जो सबसे स्पष्ट समानता दिखाई देती है, वह यह कि दोनों सत्य को अनुभव के माध्यम से दिखाते हैं, केवल बौद्धिक स्तर पर नहीं। कृष्णमूर्ति लगातार कहते हैं कि विचारों की बनावट में उलझे हुए मन से सत्य को समझना असंभव है। वहीं निसर्गदत्त महाराज कहते हैं – "तुम्हारे होने की अनुभूति से परे तुम क्या सीखोगे? 'मैं हूँ' की भावना को अनुभव करो, और फिर जानो।"

दोनों में एक और समानता है – वे शिष्य, भक्त या पाठक को कोई नया विश्वास नहीं देते। वे कहते हैं: विश्वास छोड़ो। प्रत्यक्ष देखो। स्वयं अनुभव करो। स्वयं को पहचानो।

कृष्णमूर्ति स्वयं को किसी भी धार्मिक परंपरा से नहीं जोड़ते। वहीं निसर्गदत्त स्वयं को अद्वैतवादी कहते हैं; उनकी भाषा वेदांत से जुड़े शब्दों में व्यक्त होती है। कृष्णमूर्ति भले ही वेदांत को नकारते हों, परंतु उनके निष्कर्ष वेदांत की उच्चतम अनुभूति के समकक्ष ही दिखाई देते हैं।

निसर्गदत्त कहते हैं: "You are the Absolute." और कृष्णमूर्ति कहते हैं: "When there is no center, there is freedom." भाषा अलग है, लेकिन अनुभव का बिंदु एक ही – **स्वरूप की अखंड जागरूकता।** दोनों की आध्यात्मिक पद्धति में **निरीक्षण की खोज** एक समान सूत्र है।

कृष्णमूर्ति कहते हैं: "Observe without the observer."

निसर्गदत्त कहते हैं: "'I Am' की अनुभूति में शुद्ध साक्षीभाव से स्थित रहो।"

दोनों के लिए निरीक्षण ही मुक्ति का केंद्र है। इस निरीक्षण में न कोई निर्णय होता है, न चयन, न प्रयास। वह बिना शर्त – spontaneous होता है। यहाँ दोनों की भाषा एक ही सुर में बोलती है:

मन की गतिविधियों को देखते समय 'मैं देख रहा हूँ' यह कल्पना मिट जाती है और शुद्ध जागरूकता ही शेष रहती है।

ज्ञान के निषेध और प्रत्यक्ष अनुभूति पर दोनों का समान आग्रह है। दोनों कहते हैं कि ज्ञान, पुस्तकें और दर्शन – all mental structures – मानसिक जगत के हिस्से हैं। वे उपयोगी हो सकते हैं, परंतु सत्य को छू नहीं सकते। कृष्णमूर्ति कहते हैं कि ज्ञान स्मृति का संगठन है, इसलिए वह 'जीवंत' नहीं होता। निसर्गदत्त कहते हैं कि शब्द सत्य नहीं है: शब्द तो केवल उंगली है, और सत्य चंद्रमा है।दोनों शब्दों का उपयोग करते हैं, पर उद्देश्य है हमें शब्दों से परे ले जाना।

दुःख का मूल कारण-इस विषय पर दोनों ने लगभग समान प्रकार से समाधान की है। कृष्णमूर्ति दुःख का कारण बताते हैं-आकांक्षा, असफलता, तुलना, भय, स्मृति और स्वयं की बनाई हुई छवि। निसर्गदत्त दुःख का मूल बताते हैं-अहंकार और स्वयं को विश्व से अलग मानने की भावना। लेकिन ये दोनों अलग-अलग वर्णन अंततः एक ही बिंदु पर जाकर मिलते हैं: 'स्व' और 'विश्व' के बीच जो विभाजन है, वह केवल एक कल्पना है। जब यह कल्पना असत्य सिद्ध होती है, दुःख समाप्त हो जाता है। कृष्णमूर्ति की शिक्षा में **"choiceless awareness"** की संकल्पना है, जबकि निसर्गदत्त की शिक्षा में "आत्म स्वरूप की अखंड अनुभूति" का आग्रह है। दोनों का लक्ष्य एक ही है- अखंड, अविचल, चुनाव-रहित, शांत और प्रकाशमान उपस्थित होना। कृष्णमूर्ति प्रेम को *"एक अवस्था"* कहते हैं। निसर्गदत्त प्रेम को *"सार्वत्रिकता"* कहते हैं। दोनों कहते हैं-प्रेम में 'मैं' नहीं होता, प्रेम में भय नहीं होता, प्रेम स्वतंत्रता से खिलता है। उनकी प्रेम-व्याख्या में अहंकार के लिए कोई स्थान नहीं। कृष्णमूर्ति कहते हैं कि प्रयास करने से मन तनाव पैदा करता है। निसर्गदत्त कहते हैं कि प्रयास करना ही अहंकार की चाल है। दोनों का आग्रह है-जागृति प्रयास से नहीं आती; वह प्रयासहीन, निरपेक्ष देखने से प्रकट होती है।

गुरु-शिष्य संबंध पर बात करते हुए कृष्णमूर्ति शिष्य को पूर्ण स्वतंत्रता देते हैं – उनके यहाँ कोई बाध्यता नहीं। निसर्गदत्त कहते हैं कि शिष्य को गुरु के शब्दों में नहीं, स्वयं के अनुभव में उतरना चाहिए। लेकिन दोनों ही चिंतन की स्वतंत्रता को महत्व देते हैं।

इन दोनों महापुरुषों के जीवन में सादगी और प्रामाणिकता विशेष रूप से दिखाई देती है। दोनों अत्यंत सादगी से जिए-न प्रसिद्धि की इच्छा, न भक्तों की अपेक्षा, न किसी मठ या संस्था का निर्माण। उनकी प्रामाणिकता इतनी प्रभावशाली थी कि उनके सामने बोले गए साधारण शब्द भी रहस्यपूर्ण प्रतीत होते थे। इसी कारण इन दोनों ने मानव चेतना के इतिहास में अद्वितीय स्थान प्राप्त किया है। भले ही उनकी भाषा, सांस्कृतिक संदर्भ और पद्धतियाँ भिन्न हों, लेकिन अनुभव के केंद्र में एक ही प्रकाश विद्यमान है।

अंत में, उनकी शिक्षाओं के कुछ मूल स्वरूप बिंदुओं पर एक बार फिर दृष्टि डालें:

- सत्य प्रत्यक्ष है, तात्कालिक है।
- अहंकार एक कल्पना है।
- निरीक्षण मुक्ति देता है।

- प्रेम का अर्थ है 'मैं' का अभाव।
- उपस्थित रहना ही सत्य का द्वार है।
- गुरु बाहर नहीं-अनुभूति के भीतर है।
- विचारों के कोलाहल से मुक्ति का मार्ग है 'देखना'।
- भय की जड़ तक पहुँचना ही स्वतंत्रता है।
- सत्य किसी भी सिद्धांत का नहीं होता।
- मुक्ति प्रयास से नहीं, बल्कि प्रयास-रहित जागरूकता की कृपा से प्रकट होती है।

इन दोनों की शिक्षाओं का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि अद्वैत भले ही अलग-अलग भाषाओं में बोला जाए, उसका अनुभव सदैव एक ही रहता है-मानव चेतना को बंधन से मुक्त करना और उसे उसका अपना वास्तविक स्वरूप दिखाना।

आप सभी को शुभ नव वर्ष!!

कवर डिज़ाइन: भरतभाई शिम्पी, जलगाँव

श्री सदगुरू सिद्धरामेश्वर महाराज के शिष्य एवं श्री निसर्गदत्त महाराज के परम गुरुबंधु सद्गुरु श्री रणजीत महाराज का जयंती समारोह 4 जनवरी को मनाई गया । 'निसर्गवानी' परिवार की ओर से इस महान संत को आदरपूर्वक श्रद्धांजलि ! नए वर्ष 2026 में प्रकाशित होने वाली इस तिसरी निसर्गवाणी त्रैमासिक के लिए, गुरुभक्त परम मित्र श्री भरत शिम्पी जी ने श्री रणजीत महाराज को श्रद्धांजलि के रूप में एक सुंदर कवर पेज तैयार किया है।

श्री निसर्गदत्त समाधी
चॅरीटेबल ट्रस्ट

Nisargavaani

निसर्गवाणी ನಿಸರ್ಗವಾಣಿ निसर्गबानी

वर्ष २ अंक ३ जानेवारी - मार्च २०२६

च य नि का

पूज्य संत श्री रणजीत महाराजप्रत्यक्ष मार्ग

‘पूर्वारंभ-गाथा’

मन का रहस्य

मानवीय कर्तव्य

श्री दासबोध में सख्य भक्ति विवरण

अंतरआत्मा श्रीरंग

पूज्य संत श्री रणजीत महाराज

‘नाथ सम्प्रदाय’ की सदियों पुरानी परंपरा है, मान लीजिए लगभग 12वीं शताब्दी से, और फिर भी इतनी सुसंगत है कि यह अद्वैत शिक्षाओं की विभिन्न शाखाओं और विभिन्न संतों और संतों की दृढ़ गुरु-शिष्य परंपरा के माध्यम से आज तक विद्यमान है। इनमें से बहुत प्रसिद्ध है सद्गुरु श्री निम्बर्गी उर्फ श्री गुरुलिंगजंगम महाराज द्वारा स्थापित “निम्बर्गी सम्प्रदाय”। 1857 में स्थापित निम्बर्गी संप्रदाय आज भी भारत के साथ-साथ विदेशों में भी अपने विभिन्न आध्यात्मिक केंद्रों के माध्यम से फल-फूल रहा है। संत ज्ञानेश्वर की प्रार्थना “आता विश्वात्मके देवो” के अनुरूप, नाथ संप्रदाय की आधारशिला तर्कसंगत सिद्धांत हैं कि भगवान हर किसी के दिल में मौजूद हैं और संभवतः इस सार्वभौमिक प्रकार के दर्शन ने जाति, पंथ, आर्थिक स्थिति, व्यवसाय, लिंग और उम्र के बावजूद कई लोगों को आकर्षित किया है।

सद्गुरु श्री निम्बर्गी महाराज के महानिर्वाण के बाद, उनके करीबी शिष्य उमदि के श्री भाऊसाहेब महाराज ने वर्तमान में इंचगेरी संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध, आध्यात्मिकता को आगे बढ़ाया। कई श्रद्धेय आत्म-साक्षात्कारी संत, जिनकी शुरुआत मुख्य रूप से सद्गुरु श्री भाऊसाहेब महाराज ने की थी, श्री भाऊसाहेब महाराज के महानिर्वाण के बाद इस परंपरा को उन्होंने और आगे बढ़ाया है। इनमें से कुछ के नाम हैं, सद्गुरु श्री अंबुराव महाराज, सद्गुरु प्रो. गुरुदेव रामभाऊ रानडे, सद्गुरु शिवलिंगवक्का, सद्गुरु श्री सिद्धरामेश्वर महाराज, सद्गुरु श्री गिरीमल्लेश्वर महाराज, सद्गुरु श्री चिम्मड महाराज, सद्गुरु श्री कोटनिस महाराज इत्यादि।

सद्गुरु श्री सिद्धरामेश्वर महाराज ने अपनी लंबी तपस्या के माध्यम से महसूस किया कि यद्यपि आत्म-साक्षात्कार के दो तरीके हैं। विहंग (पक्षी) मार्ग और पिप्पिलिका

(चींटी का) मार्ग ...विहंग मार्ग चुनना बेहतर होगा क्योंकि गुरु द्वारा मंत्र दीक्षा और उसके नियमित घंटों के लंबे जप से आत्म-बोध में तुलनात्मक रूप से लंबा रास्ता लग सकता है। कई लोगों को अपने दैनिक व्यस्त जीवन में से अधिकांश समय देना कठिन हो सकता है। ध्यान देने योग्य बात यह होगी कि निम्बर्गी सम्प्रदाय के अनुशासन के अनुसार श्री सिद्धरामेश्वर महाराज ने अपने सभी शिष्यों को दीक्षा दी। हालाँकि, भक्ति मार्ग का प्रचार करते समय, उन्होंने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने के लिए ज्ञान मार्ग पर अधिक जोर दिया।

वर्ष 1936 में श्री सिद्धरामेश्वर महाराज के महानिर्वाण के बाद, उनके कई शिष्यों ने आत्मज्ञान शिक्षाओं की लौ को आगे बढ़ाया। श्री निसर्गदत्त महाराज, श्री काडसिद्धेश्वर स्वामी, श्री बालकृष्ण महाराज, श्री रणजीत महाराज, श्री गणपतराव कन्नूर महाराज, श्री विलासानंद महाराज और कई अन्य संत लोगों ने अपने प्रवचनों के माध्यम से देश के भीतर और बाहर बड़े पैमाने पर लोगों को आत्मज्ञान की व्याख्या की। श्री रणजीत महाराज की 112वीं जयंती(4 जनवरी) के उपलक्ष्य में, मैं इस लेख के माध्यम से उनकी शिक्षाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करना चाहूंगा।

वर्ष 1924 में, बारह वर्ष की अल्प आयु में, श्री रणजीत महाराज की मुलाकात मुंबई में अपने गुरु सद्गुरु श्री सिद्धरामेश्वर महाराज से हुई। एक गुजराती परिवार में जन्मे श्री रणजीत महाराज गुजराती के साथ-साथ मराठी, हिंदी और अंग्रेजी भाषाओं के भी अच्छे जानकार थे। वह जीवन भर एक आम मुंबईकर की तरह बेहद सादा जीवन जीते हुए स्थायी बैचलर बने रहे। लगभग छह दशकों तक वह एक कट्टर 'साधक' की तरह रहे, हालांकि उन्होंने आत्म-साक्षात्कार प्राप्त किया और एक 'गुरु' (मास्टर) के रूप में इंचगिरी संप्रदाय की शिक्षाओं का प्रसार करने में सक्षम थे। मुझे स्पष्ट रूप से याद है कि श्री निसर्गदत्त महाराज द्वारा अपने शिष्यों के साथ मनाए जाने वाले विशेष संप्रदाय उत्सवों के दौरान, निसर्गदत्त महाराज उस अवसर पर उपस्थित श्री रणजीत महाराज से दर्शकों के लिए प्रवचन देने के लिए अनुरोध करते थे, बल्कि उन्हें मजबूर करते थे। ऐसे कुछ प्रवचनों को मैं नोट करने के लिए इस्तेमाल करता हूं और मैंने उन्हें हमेशा सद्गुरु निसर्गदत्त महाराज के प्रवचनों के बराबर पाया है। यह उनकी अत्यंत सरलता और स्वभाव ही था जिसने उन्हें खुद को एक मास्टर के रूप में प्रस्तुत करने से रोका। तो मामला उनके दूसरे भाई-शिष्य श्री भाईनाथ महाराज के साथ भी होता था। मैं इन महान गुरुओं की उनकी अनुकरणीय सादगी के लिए सराहना और अभिनंदन करता हूं। श्री रणजीत महाराज अपने विशिष्ट थोड़ा 'गुजराती-मिश्रित-मराठी' उच्चारण में

दिन-प्रतिदिन के उदाहरणों का हवाला देते हुए आत्म-ज्ञान शिक्षाओं को बहुत ही सरल तरीके से समझाते थे जो सीधे आपके दिल में उतर जाते हैं। जब भी मैं इन दोनों गुरुओं को याद करता हूं, तो मेरे मन में यह विचार आता है कि श्री निसर्गदत्त महाराज धाराप्रवाह मराठी बोलते थे, जबकि जन्म से गुजराती होने के कारण श्री रणजीत महाराज इतनी धाराप्रवाह मराठी नहीं बोलते थे। कभी-कभी एक या दो शब्द, सिवा निसर्गदत्त महाराज अंग्रेजी भाषा से परिचित नहीं थे और दुभाषिया की सहायता पर निर्भर रहते थे। जबकि श्री रणजीत महाराज अपने शिष्यों से धाराप्रवाह अंग्रेजी में बातचीत करते थे। पश्चिमी लोगों के बीच इतिहास रचने वाली पुस्तक "आई एम दैट" (I AM THAT)के प्रकाशन के बाद, श्री निसर्गदत्त महाराज को विदेशी भूमि पर व्याख्यान देने के लिए कई प्रस्ताव और सुझाव मिले, जो अमल में नहीं आ सके। लेकिन यह गर्व का क्षण है कि सद्गुरु श्री रणजीत महाराज ने फ्रांस, जर्मनी, स्पेन जैसे कुछ यूरोपीय देशों का दौरा किया और अपने प्रवचन दिए।

पाठकों के लाभ के लिए उनके शब्दों को नीचे उद्धत कर रहा हूं।

सद्गुरु श्री रणजीत महाराज:

(प्रवचन:18/4/2000-हनुमान जयंती/दहिसर मठ समाधि मंदिर, मुंबई का स्थापना समारोह)

आज निसर्गदत्त महाराज की समाधि है और उनका जन्म (शताब्दी) भी आज है !! लेकिन आज!! जन्म और समाधि (निर्वाण) भ्रमात्मक है। भ्रम का त्याग करना चाहिए. गुरुबोध जरूरी है. "मैं शरीर नहीं हूं"...गुरु क्या उपदेश देते हैं?...चित्त की शुद्धता की आवश्यकता है। मन को शुद्ध करने का प्रयास मत करो. लेकिन चित्त को शुद्ध करो. हमारे मन का स्वभाव है.. .अच्छे या बुरे विचारों में संलग्न रहना। जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो आपको ज्ञान प्राप्त होता है। 'मैं आत्मा हूँ'...इस ज्ञान का तुम्हें बोध होता है। गुरु के बिना कभी भी ज्ञान का एहसास नहीं होता।

गुरु कैसे हैं? कोई अहंकार नहीं! प्रथम गुरु ! उसके बिना ज्ञान को समझा नहीं जा सकता। चित्तशुद्धि के बिना यह पूर्ण नहीं है। वे (गुरु) संसार में प्रचुर मात्रा में हैं। बड़े-बड़े नाम हैं. लेकिन सद्गुरु विवाह किससे करते हैं?.. विवाह का अर्थ है चुनना...परमात्मा से विवाह!! परमात्मा को पहचानना

सौभाग्य का लक्षण है। (वह सुबह की प्रार्थना से उद्धृत करते हैं..सद्गुरु भेटले हो..फळले भाग्य माझे!! (मैं सद्गुरु से मिला...मेरा भाग्य समृद्ध हो गया)। अपने सद्गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण।

आपको केवल अपने परिवार के कल्याण की चिंता है। इसलिए सोचिये. यदि आप सोचेंगे नहीं तो आप समझ नहीं पायेंगे। जहाँ अँधेरा (अज्ञान) है, वहाँ दीप जलाओगे तो क्या होगा? जब आप ज्ञान प्राप्त करते हैं तो भी यही बात होती है। गुरु की कृपा के बिना कुछ नहीं होगा। सदगुरु के बिना तुम्हें कुछ भी समझ नहीं आएगा। यह (ज्ञान) हर चीज़ का आधार है। नींव को समझने के लिए अपने अहंकार से छुटकारा पाएं। राजा का बेटा राजा बन सकता है. सद्गुरु के प्रति समर्पण करने वाले के साथ भी ऐसा ही होता है। गुरु शिष्य को नियुक्त करता है, फिर शिष्य गाड़ी चलाता है। यह ऐसा है। तुम, मैं, एक ही हैं. लेकिन ऐसा नहीं है, जब तक शरीर मौजूद है। ..केवल तभी जब हम शरीर रूप को त्याग देंगे। गुरु को भूल जाने पर अहंकार उभर आता है। गुरु ही माता है. जब तक शरीर है तब तक अवधारणाएँ हैं। जब शरीर छूट गया तो सब एक ही है ! सब में एक ही ईश्वर. ..चोर में भी और ठग में भी। निसर्गदत्त सभी की नींव थे। 'मैं हूं' सब में व्याप्त है, सब कुछ मुझमें व्याप्त है।

मन आप पर शासन करता है क्योंकि आप दृश्य जगत को वास्तविक मानते हैं। जगत..मतलब जो चला गया..यानि जो नहीं है! आप कुछ बनकर कर्म करें। क्या होगा यदि आप अपने आप को कुछ नहीं मानते!! वह अज्ञान ही सम्पूर्ण संसार की... मन की धुरी है!! मन का अर्थ है 'कहना'। आपके कहने से ही सब कुछ हुआ है. बस कहना छोड़ दो. स्वत्व- स्वत्व की रात्रि ही शिवरात्रि है। जन्म और मृत्यु, पाप और पुण्य, सुख और दुःख... सब विचार हैं। वे हैं, क्योंकि आप ऐसा कहते हैं।

ज्ञान.. केवल आप ही एक विचार को समझते हैं। ज्ञान के बिना क्या कोई सोच सकता है? ज्ञान का अर्थ है जानना, समझना। वह इसके करीब है लेकिन उसे इसका एहसास नहीं है। इसलिए इसे गुह्य ज्ञान कहा जाता है। मच्छर...उसे भी ज्ञान है...काटना है इसका ज्ञान!! हर किसी में ज्ञान भरा हुआ है. एक ही है, दूसरा कोई नहीं!!... वेद कहते हैं। क्या ज्ञान से सींग उगते हैं? सब कुछ वैसा ही दिखता है! एक समझता है, एक नहीं!! परमार्थ

करने के लिए क्या आवश्यक है? संतों का अर्थ यह है... शरीर पांच तत्वों से बना है। मैं छठा हूँ, और इसमें ज्ञान है!! उस छठे को जो समाप्त कर देता है, वह संत कहलाता है। वह ज्ञान भी मिथ्या है, ऐसा समर्थ(श्री रामदास स्वामी) कहते हैं। ज्ञान का स्वभाव कुछ ऐसा दिखाना है जो कुछ भी नहीं है! ज्ञान अज्ञान है. एक तो भाई है, वही कहता है, वह मेरा पति है। संतों ने क्या कहा? गुप्त ज्ञान लोगों में प्रकट होता है। हमारा लाभ, यह जानना कि हम कौन हैं, अंतिम लाभ है। क्या कोई कहता है मैं ज्ञान स्वरूप हूँ? वह कहती है, "वह मेरी पत्नी है!" ओह! ज्ञान की मूर्ति! वह दुनिया पर राज करती है!! संत तो खुलकर ज्ञान बखानते हैं। आप ज्ञान के पिता हैं. ज्ञान की उत्पत्ति आपसे ही होती है। ज्ञान मिथ्या है।

वर्ष 2000 में उनके महा निर्वाण के बाद, सद्गुरु श्री रणजीत महाराज के शिष्यों ने बाणगंगा, वालकेश्वर, मुम्बई में उनका समाधि मंदिर बनवाया है। हाल ही में उनका 25वा पुण्यतिथी समारोह बड़े पैमाने पर मनाई गयाI

– अनिल चुबे
ठाणे
9819214661

स्वयं का ज्ञान ही हर बुद्धिमानी/ज्ञान की शुरुआत है।

– अरस्तु

पूर्वारंभ-गाथा

पिछले त्रैमासिक में हमने श्री हंसराज स्वामी का संक्षिप्त चरित्र देखा। **निसर्गवाणी** के इस अंक से आगे हम श्री हंसराज स्वामी के साहित्य का अध्ययन शुरू करने वाले हैं। सबसे पहले हम समर्थ रामदास स्वामी के आध्यात्म विषयक स्फुट प्रकरण **"पूर्वारंभ"** पर श्री हंसराज स्वामी द्वारा लिखित गद्य-टीका का अभ्यास करेंगे। श्री हंसराज स्वामी की टीका गद्य में है, और इसमें हमें 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में मराठवाड़ा के गद्य-लेखन का एक उत्तम उदाहरण देखने को मिलता है।

'पूर्वारंभ' समर्थों का अत्यंत संक्षिप्त और सुंदर प्रकरण है। इसके संबंध में श्री शंकर श्रीकृष्ण देव ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है-वे कहते हैं, "समझदार व्यक्ति को यह प्रकरण सचमुच नहीं पढ़ना चाहिए। उसे पागल हो जाना तय है। जिसे यह लगता हो कि वह जीवन भर समझदार ही रहे और समझदारी में ही मरे, उसे इस प्रकरण की राह पर नहीं जाना चाहिए।"

श्री हंसराज स्वामी ने समर्थों के दो ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी हैं – (1) **दासबोध** का सार बताने वाली *'संकेत कुबडी'* और (2) *'पूर्वारंभ'* प्रकरण पर यह गद्य-टीका। हंसराज स्वामी का अधिकांश लेखन ओवीबद्ध है, और केवल **'तत्त्वझाड़ा'** तथा **'पूर्वारंभ-गाथा'** ये दो ही ग्रंथ उन्होंने गद्य में लिखे हैं। संभव है कि केवल गद्य में होने के कारण ही वे अब तक अप्रकाशित रहे! इनमें से 'पूर्वारंभ-गाथा' को डॉ. ग. वा. करंदीकर के प्रयत्नों से प्रकाशित किया गया – इसके लिए डॉ. करंदीकर का आभार व्यक्त करना उचित है।

समर्थ के प्रकरण का नाम **'पूर्वारंभ'** है। हंसराज स्वामी ने अपनी टीका का अलग नाम कहीं नहीं दिया है। परंतु उनके शिष्यों द्वारा लिखित *'हंसपद्धति'* नामक चरित्रग्रंथ में यह उल्लेख मिलता है-**"पूर्वारंभ जो समर्थकृत, त्यावरी गाथा विस्तारिला"** इससे *"पूर्वारंभ-गाथा"* यह नाम हंसमंडल में चलन में आया। यद्यपि 'गाथा' सामान्यतः पद्यरूप में होती है, लेकिन 'गाथा' शब्द का मूल 'ग्रंथ' शब्द से ही संबंधित होने के कारण यह नाम गद्य-ग्रंथ को भी शोभा देता है।

समर्थ का यह स्फुट प्रकरण कुल केवल **साठ ओवियों** का है, परंतु उसमें व्यक्त तत्त्व ज्ञान अत्यंत उच्च कोटि का है। समर्थ ने यह विचार प्रश्न–उत्तर के रूप में रखा है-यह *गुरु–शिष्य संवाद* है, जो उनके अधिकांश ग्रंथों में देखा जाता है। इसी पद्धति से वे वेदांत के गहन विचारों को भी बहुत सरलता से समझा देते हैं। इस प्रकरण में भी समर्थों ने यही शैली अपनाई है।

इस संवाद के माध्यम से समर्थ ने दिखाया है कि **'कोऽहम्?'** की खोज में लगा शिष्य **'सोऽहम्'** की ज्ञानात्मक अनुभूति तक कैसे पहुंचता है।

इस संवाद में यह भी स्पष्ट किया है कि-संतों के संग से संसार-चक्र से मुक्ति मिलती है; बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा मनन और निदिध्यासन जैसी आंतरिक साधनाओं से परमात्मा की प्राप्ति होती है; और ये सभी बातें केवल सद्गुरु की शरण में जाने से ही सिद्ध होती हैं।

"सद्गुरु किसे कहते हैं? सच्चा शिष्य किसे कहते हैं? अधिकारी (योग्य पात्र) किसे कहते हैं?"- इस प्रकार की प्राथमिक लेकिन आवश्यक बातें बताने के बाद सद्गुरु शिष्य को आत्मस्वरूप का वर्णन समझाते हैं। वे बताते हैं कि आत्मा सबका नियंता है, वह दृश्य जगत के पार है और सर्वव्यापी है। सृष्टि आत्मा में विवर्तरूप से स्थित है और आत्म स्वरूप उसे भी कैसे व्याप लेता है, यह भी बताया गया है।

आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए मन आदि वृत्तियों का अंत कर केवल आत्म निवेदन के द्वारा अभिन्न हुआ जा सकता है- यह स्पष्ट किया है। लेकिन इसके लिए शास्त्रों की अपेक्षा सद्गुरु की कृपा और शिष्य की वैचारिक साधना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है- ग्रंथ का ऐसा निष्कर्ष किया है।

हंसराज स्वामी की टीका मूल ग्रंथ के अनुरूप होते हुए भी केवल अक्षरशः टीका नहीं है। उन्होंने अपनी दृष्टि से इस प्रकरण की स्वतंत्र व्यवस्था की है। उनके अनुसार ओवी 1 से 15 तक *प्रास्ताविक भाग* है, जिसमें अनुबंध चतुष्टय, सद्गुरु के लक्षण, शिष्य की साधन चतुष्टय सम्पन्नता, तथा ज्ञान के प्रति उसकी लगन और तड़प जैसे

विषयों का समावेश है। इसके बाद सद्गुरु द्वारा दिया गया ज्ञानोपदेश है।

श्री हंसराज स्वामी के मत में समर्थ ने इस ग्रंथ में उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ – सभी प्रकार के साधकों की सुविधा का विचार रखा है। सोलहवीं ओवी में सभी समुदायों के लिए "मैं कौन?" इस प्रश्न के द्वारा शिष्य को अपने ब्रह्मस्वरूप को पहचानने को कहा है। तीव्र बुद्धि वाले शिष्य के लिए इतना उपदेश ही पर्याप्त है।

ओवी 17 से 37 तक मध्यम कोटि के साधकों के लिए उपयुक्त विषय है। इसमें आत्मस्वरूप के संबंध में शिष्य के मन में उत्पन्न भ्रमपूर्ण कल्पनाओं का निवारण किया है तथा आत्मा की *सत्–चित्–आनंद* स्वरूप लक्षणों की स्थापना की है। इसके बाद सृष्टि-निर्मिति से संबंधित आरंभ, परिणाम और विवर्त- इन वादों को स्पष्ट कर यह बताया है कि विवर्तवाद ही अद्वैत वेदांत के अनुकूल है। इसके पश्चात आत्मनिवेदन के माध्यम से अभिन्न अवस्था कैसे प्राप्त होती है, इसका मार्गदर्शन किया है।

ओवी 43 से 56 तक आत्मा का *अन्वय–व्यतिरेक* पद्धति से वर्णन कर, उसके अनुसार साधक को किए जाने वाले दोनों प्रकार के अभ्यास बताए हैं। और अंतिम चार ओवियों के आधार पर यह समझाया है कि केवल शब्दज्ञान से मोक्ष प्राप्त नहीं होता – सद्गुरु-कृपा ही अनिवार्य है; इसी बात के साथ ग्रंथ का उपसंहार किया गया है।

इस प्रकार हंसराज स्वामी ने अपनी वेदांत संबंधी भूमिका इस छोटे से ग्रंथ में प्रस्तुत की है। स्वामी के अन्य ग्रंथों की तरह इसमें भी *विचार* और *अभ्यास* – दोनों विभाग पाए जाते हैं। जैसे स्फटिक के पदार्थ का आकार छोटा हो या बड़ा, दोनों की संरचना समान होती है- वैसे ही हंसराज स्वामी के सभी ग्रंथों की विशेषता भी एक-सी कही जा सकती है।

श्री हंसराज स्वामी द्वारा अध्याय 'पूर्वारंभ' पर एक गद्य टिप्पणी
श्री पूर्वारंभ-गाथा

इस टीका को **'पूर्वारंभ-गाथा'** यह नाम *'हंसपद्धति'* नामक श्री हंसराज स्वामी के चरित्रग्रंथ में दिया गया है। वहीं यह भी उल्लेख है कि इस ग्रंथ की रचना श्री कल्याण स्वामी की समाधि-स्थली-डोमगांव- में हुई थी। (हंसपद्धति: "पूर्वारंभ जो समर्थकृत, त्यावरी गाथा विस्तारला" हं.प. 7.8.30)। अब तक इस टीका की केवल एक ही प्रति उपलब्ध हुई है, जो श्रीसमर्थ वाग्देवता मंदिर में संरक्षित है। लगभग सौ वर्ष पहले मराठवाड़ा में मराठी गद्य का जैसा स्वरूप था, उसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण होने के

कारण भी इस टीका का भाषिक दृष्टि से विशेष महत्व है।

सत्कार्योत्तेजक सभा द्वारा प्रकाशित *'लघुकाव्ये'* नामक ग्रंथ में यह प्रकरण प्रथम बार छापा गया। उसकी प्रस्तावना में श्री नानासाहेब देव लिखते हैं- समझदार व्यक्ति को यह प्रकरण वास्तव में नहीं पढ़ना चाहिए। उसे पागल हो जाना निश्चित है। जिसे यह लगता हो कि वह मरते दम तक समझदार ही रहे और समझदारी में ही मरे, उसे इस प्रकरण के पास भी नहीं जाना चाहिए।

ऐसे इस **असाधारण और पागल कर देने वाला** (विलक्षण रूप से मोहक) छोटे से प्रकरण पर, आत्मप्राप्ति के लिए उन्मुख हुए, ब्रह्मनिष्ठ हंसराज स्वामी द्वारा लिखी गई यह विस्तृत एवं मार्मिक टीका – श्रीसमर्थ भक्तों की सेवा में प्रस्तुत करने का सौभाग्य – *सत्कार्योत्तेजक सभा* तथा *श्रीसमर्थ वाग्देवता मंदिर* – इन दोनों संस्थाओं के उपकार के कारण संभव हुआ, जिन्होंने अपनी संग्रहीत प्रतियाँ प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की।

॥ श्रीराम समर्थ ॥

जय जय जी सद्गुरु गोसावी। मज जें जें आठवेल जीवीं ॥ तें तें पुसेन,फेडावी । आशंका माझी ॥ १ ॥
शिष्य बोले लडिवाळपणें । म्या संसार घेतला कोण्या गुणें । मज हें दुःख भोगणें । किंनिमित्य घडलें ॥ २ ॥
विषयलोभें, भगवंता । नेणोनि, जालासी दुश्चिता । तेणें गुणें मागुता । आलासी जन्मा ॥ ३ ॥
तरी हा जन्म कैसा तुटे। मज भगवंत कैसा भेटे । भवसागरू वोहटे । कोण्या गुणें दातारा ॥४ ॥

टीका: मेरा जन्मबंधन कब टूटेगा? मुझे भगवान कब मिलेंगे? और यह भवसागर कब शांत होगा? - शिष्य की यह भावना ध्यान में रखकर, हेतु, हेतु-मध्यम और भाव-इन तीनों रूपों में (स्वामी ने) तीन प्रकार से उसका उत्तर दिया है।

जन्म तुटे संत संगें। देव भेटे अंतरंगें ।
दृढ भक्तीचेनि योगें। भवसिंधु आटे ॥५ ॥

टीका - जैसा प्रश्न एक ही रूप का था और तीन प्रकार से पूछा गया, उसी प्रकार उपाय भी एक ही है – परन्तु उसे तीन प्रकार से बताया गया है। *जन्म (बंधन)* संतों के सत्संग से ही टूटता है। जन्म-मृत्यु दोनों एक ही स्वरूप के होने से 'मृत्यु' शब्द का अलग उल्लेख नहीं किया। अतः सत्संग के बिना अन्य किसी साधन से जन्म-मृत्यु का चक्र नष्ट नहीं होता। इसलिए सत्संग अवश्य करना चाहिए।

भगवान अंतरंग से मिलते हैं। 'मिलना' का अर्थ प्रत्यक्ष दर्शन नहीं, बल्कि *अपरोक्ष रूप से आत्मसाक्षात्कार* – यानी "स्वयं ही भगवान होना।" केवल 'मिलना' शब्द देखकर बाह्य दर्शन समझना उचित नहीं। जब पहले भगवान का ज्ञान न था, तभी ऐसा कहा गया है। इसलिए भगवान को *जाना* चाहिए; जो पहले से दृष्टिगोचर है, उसे जानने की आवश्यकता नहीं। इसीलिए 'दृष्टिगोचर दर्शन' योग्य नहीं; भगवान को जानकर वही बन जाना – यही साक्षात्कार है, यही 'मिलना'। इसका उपाय केवल अंतरंग साधना है।प्रमाण आदि बाह्य उपायों से यह सिद्धि नहीं होती। इसलिए अंतरंग साधना – श्रवण, मनन, निदिध्यासन – इन्हीं से आत्मप्राप्ति होती है; अतः श्रवण-मनन करना चाहिए।

- **श्रवण :** सद्गुरु के मुख से "मैं कौन?" "भगवान कौन?" – यह निशंक होकर सुनना, और "मैं ही ब्रह्म हूँ" यह दृढ़ निश्चय होना।
- **मनन :** यदि कोई कुतर्क उठें, तो उन्हें नष्ट कर विचार के द्वारा ब्रह्म में दृढ़ होना।
- **निदिध्यासन :** एकनिष्ठ, निरंतर आत्मचिंतन और अनुसंधान – यही अंतरंग साधना है।

दृढ़ भक्ति से भवसागर सूख जाता है। भक्ति का अर्थ है- ऐक्यता। ध्येय-ध्याता, साध्य-साधक, उपास्य-उपासक- इनमें रत्तीभर भी भेद न रहे। 'भवसागर' का अर्थ ही भेदबुद्धि है-'तुम', 'मैं', 'यह'-इन सब भेदों का नाश दृढ़ भक्ति ही करती है। अतः अभिन्न रूप से ऐक्यता प्राप्त हो- यही सार है।

यह सब शिष्य ने अंतर में समझ लिया और दृढ़ भक्ति के उपाय के रूप में प्रश्न का उत्तर पूरा हो गया।

दृढभक्ती करू कैसी । काय धरावें मानसीं । सांगा स्वामी अज्ञानासी । मार्ग कांहीं ॥ ६ ॥

टीका - हे महाराज, हे सद्गुरु! मुझे, अज्ञानी को, कृपा करके मार्गदर्शन किजीये। मैं दृढ़

भक्ति कैसे करूँ? इस भक्ति की प्राप्ति के लिए अंतःकरण में क्या धारण करूँ? कृपा कर यह बताइए।

लेकिन अभी दृढ़ भक्ति का प्रत्यक्ष निरूपण उसकी समझ में उतरेगा नहीं, इसलिए पहले उस भक्ति की प्राप्ति का उपाय : अर्थात् साधन - सद्गुरुनाथ उत्तर के रूप में बताते हैं।

...क्रमशः

– डॉ. धीरज सर्वज्ञ

बीड, मराठवाडा

"भगवान कौन है और वह कैसा दिखता है?" यह प्रश्न पूछने का ज्ञान ही ईश्वर है! जिस अदृश्य शक्ति को अक्सर भगवान माना जाता है वह ज्ञान आप स्वयं हैं। ज्ञान ही ईश्वर है ईश्वर हमारा स्वरूप है...स्वयं।

– श्री निसर्गदत्त महाराज

मन का रहस्य

||ॐ श्रीकृष्णः शरणं ममः ||
||श्री तुळजाई प्रसन्न ||

मन एक अगम्य गुफा है। किसी के भी मन में प्रवेश करना बहुत ही कठिन है! बाकी सब छोड़ो... अपने ही मन का हमें पता नहीं होता!! भीतर क्या छिपा है और कब क्या अचानक ऊपर आकर उफन पड़ेगा!! साधारण घरेलू प्रसंगों में भी इंसान सहज ही कहता है – *"मेरे मन को ठीक लगा तो करूँगा!"* ऐसा यह मन छोटे शरारती बच्चे की तरह इधर-उधर भागता रहता है। इसे एक जगह बाँधकर रखना बहुत कठिन है!

लेकिन इस मन का अध्ययन हर जगह होते हुए दिखाई देता है। अत्यंत तीक्ष्ण बुद्धि और ज्ञान पर भी यह मन कब्जा जमाता है। एक बार अगर यह भड़क उठे, तो इसके सामने किसी की कुछ नहीं चलती। आख़िर यह 'मन' कहाँ होता है! शरीर में इसकी जगह कहाँ है? हृदय की सर्जरी करते समय डॉक्टरों को क्या कभी यह दिखाई दिया है? इसका उत्तर निश्चित रूप से – "नहीं" ही है।

भगवद्गीता में भगवान ने कहा है – *"काम एष क्रोध एष..."* - काम और क्रोध का अधिष्ठान मन ही है। *"इंद्रियेभ्यः परं मनः"* – इंद्रियों से मन श्रेष्ठ है। इसलिए मन पर काम किए बिना न केवल आध्यात्मिक साधना, बल्कि कोई भी उचित कार्य सफल नहीं होता। तीसरे अध्याय में यह कहा है, और छठे अध्याय में भगवान कहते हैं – *"मनसा इंद्रियं ग्रामं विनियम्य"* तथा *"आत्मसंस्थं मनः कृत्वा..."* इस प्रकार मन की चंचल और अस्थिर अवस्था नष्ट होती है और *"योगी प्रशांत मनसं"* – शांत मन वाला योगी – श्रेष्ठ सुख को प्राप्त करता है।

आगे इसी अध्याय में अर्जुन पूछता है – *"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि*

बलवद्दृढम्।" वह कहता है कि हवा की तरह चंचल मन को वश में करना उसे अत्यंत कठिन लगता है।तुरंत भगवान कहते हैं – *"मनो दुर्निग्रहं चलं..."* – यह सत्य है कि मन का निग्रह कठिन है, परंतु वैराग्य और अभ्यास से यह संभव हो सकता है। फिर बारहवें अध्याय के आठवें श्लोक में – *"मय्येव मन आधत्स्व"* - कहते हुए भगवान ने स्थितप्रज्ञ अवस्था का वर्णन किया है।

मन पर काम करना कितना आवश्यक है, यह पूरे गीता में बताया गया है। इसी प्रकार आदि शंकराचार्य, ऋषि-मुनि तथा अन्य पूर्वाचार्यों ने भी स्पष्ट कहा है कि – **"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"** अर्थात *मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है*।

गीता के 18वी अध्याय में भगवान ने स्पष्ट कहा है – **"इन्द्रियाणां मनश्चास्मि"** – *इन्द्रियों में मेरा स्वरूप मन है*।

जन्म से लेकर मृत्यु तक **मन ही मनुष्य को जीवन का दर्शन कराता है।** वही बुद्धि को भी नचाता है। साहित्यिक जगत में भी *मन* के बारे में बहुत कुछ कहा गया है।

मन, मन को समझ नहीं पाता!
मन अगर शुद्ध है, तो बात ही अनमोल है!
हमने पहचान ली, हाँ पहचान ली मन की पहचान
मन पापी है, भटका हुआ है
मन राम के रंग में रंगा हुआ है...आदि आदि।

और प्रेम करने वालों की भावनाओं की दुनिया में तो मन पर आधारित भावगीत तो असंख्य हैं!!

पर एक रोचक बात यह है कि **'मन' शब्द का मूल 'मनस' है और वह संस्कृत में नपुंसक-लिंगी शब्द है।** कितना विशेष है यह! जो मन एक क्षण भी एक जगह टिकता नहीं, शांत नहीं रहता, बड़े-बड़े महापुरुषों को अपने पीछे दौड़ाता है, तप करवाता है – वही *मनस* नपुंसक-लिंगी शब्द है।

हमारे संत-महात्माओं ने भी इस मन पर खूब काम किया है। संत एकनाथ, संत ज्ञानेश्वर, संत तुकाराम, संत नामदेव आदि ने मन से हितगुज किया है। समर्थ रामदास स्वामी ने *दासबोध* में मन को समझाया है।

205 श्लोकों के छोटे से मानस-शास्त्रीय 'मनोबोध' ग्रंथ में मन को अद्भुत उपदेश दिए हैं।

इनमें से प्रत्येक श्लोक का अगर ठीक से अध्ययन किया जाए और उस बोध

को बुद्धिपूर्वक भीतर उतारा जाए तो **हर मनुष्य का जीवन ऊँचे, श्रेष्ठ स्तर पर पहुँच सकता है!**

लेकिन ध्यान कौन देता है? साधारण मनुष्य *खा-पीकर, मज़े करके* पशुवत जीवन जीना ही धन्यता समझता है। मनुष्य जन्म मिला है तो उसका उत्कर्ष कैसे हो – इस पर सोचने का भी समय नहीं।

ऐसे समय में लगता है – **हे देव! तूने दी हुई मनःशक्ति हम कितनी व्यर्थ गंवा रहे हैं!** तुझसे भौतिक जीवन, भौतिक संसार, वस्तुओं के अलावा हम कोई और विचार ही नहीं करते। तूने हमें क्या-क्या दिया है – इसका कभी हिसाब नहीं रखते।

दो आँखें, कान, घ्राणेंद्रियाँ, हाथ-पाँव, बुद्धि – सब कुछ सुडौल और सक्षम शरीर दिया है, इसीलिए हम सुंदर जीवन जी पाते हैं। पर असली जीवन-सौंदर्य तो इन सबका उपयोग **तुम्हें पाने में** होना चाहिए – यह किसी के ध्यान में नहीं आता।

हे देव, हमें क्षमा कर! हमें उचित मार्ग पर ले चल।

हम तो बस शिकायत करते रहते हैं – आने वाली कठिनाइयों और दुखों पर सोचते हुए रोते रहते हैं। इससे बेहतर है कि **समर्थ रामदास के मनोबोध का सहारा लें।** इसीलिए इस लेख में हम उसमें से केवल एक ही श्लोक पर विचार करेंगे।

जनीं सर्व सुखी असा कोण आहे। विचारें मना तूची शोधुन पाहे॥
मना त्वांचि रे पूर्व संचीत केले। तया सारखे भोगणें प्राप्त जाले॥११॥

(**अर्थ:** इस दुनिया में पूरी तरह सुखी कोई भी नहीं है। हे मन, ज़रा सोच-तू खुद ही देख ले। और मन, आज जो कुछ भी हमारे जीवन में हो रहा है, वह सब वही है जो हमने पहले [बीते समय में] अपने कर्मों से बनाया है। हम बस उसी का फल भुगत रहे हैं।)

सामान्यतः हमारे पास जो नहीं है, उसी की हम शिकायत करते रहते हैं, और दुख मनाते रहते हैं। समर्थ हमें माँ की ममता से समझाते हैं: "अरे बच्चे, क्या इस दुनिया में किसी को पूरी तरह से सुख मिल सकता है? सोचो और खुद खोजकर देखो।" यहाँ समर्थ को समाज की - निरीक्षण और चिंतन दिखाई देता है। इस प्रश्न का उत्तर वे अगली ही पंक्ति में देते हैं – "विचारें मना…". जो व्यक्ति विचारशील है, शास्त्रों का अध्ययन करता है और उसी के अनुसार जीवन जीता है, वही वास्तव में सुखी होता है।

हे मन, विचार कर, शास्त्र का अभ्यास कर और खोजबीन कर। तब तुम्हें दिखेगा कि वास्तव में विचारशील लोग ही सुखी होते हैं। क्योंकि शास्त्र-अध्ययन से उन्हें सुख का सही अर्थ समझ में आता है। इसलिए वे सुखी और स्वस्थ रहते हैं।

अगली दो पंक्तियों में समर्थ मन को पिता की तरह डांटते हैं – अरे मन, अरे इंसान, तुम्हारे पूर्व जन्म के संचित कर्मों के अनुसार ही आज तुम्हें यह भोग प्राप्त हुआ है। कर्म के तीन प्रकार हैं – प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण। पहले जन्मों या पहले जीवन में जो-जो कर्म तुमने किए, उनके ही फल आज तुम्हें भोगने पड़ रहे हैं। समर्थ यह एक हल्की-सी चपत की तरह समझाते हैं और बताते हैं कि आत्म-परीक्षण करो कि कौन-सा कर्म तुम्हारे रास्ते में बाधा बन रहा है! क्या करना चाहिए, जिससे सुख प्राप्त हो- इस पर विचार करो और उसी आधार पर जीवन की नींव रखो।

भँवरे या तितली की तरह कितने फूल-फलों पर, यानी अलग-अलग विषयों के पीछे कब तक घूमते रहोगे? सोचो! भँवरा और तितली चाहे कितने भी फूलों पर जाएँ, वे अपना काम करते ही हैं। उनके पैरों में पराग चिपकता है और वह दूसरे फूलों के पराग से मिलकर नए फल-फूल पैदा करता है। लेकिन मनुष्य विषयों के पीछे भागकर क्या पाता है? केवल आत्म-हानि! सभी संतजन हमें पूरी निष्ठा से बताते हैं कि अच्छा क्या है।

लेकिन हमारा प्रारब्ध...! जो भी हो, भगवान से यही प्रार्थना करती हूँ कि सदैव हमारा संत-संग हो।

– आसावरी
मुंबई

एकांत सुन्दर है । एकांत का मतलब अकेले रहना नहीं है ।
इसका तात्पर्य यह है कि मन बाहरी दृश्यों से प्रभावित एवं प्रदूषित नहीं होता।

– जे कृष्णमूर्ति

मानवीय कर्तव्य

श्री समर्थ सिद्धरामेश्वर महाराज की जय

श्री समर्थ निसर्गदत्त महाराज की जय

||श्री समर्थ गणपतराव महाराज की जय||

मनुष्य का परम कर्तव्य आत्मज्ञान प्राप्त करना है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है **"आत्मज्ञान के बिना, पार्थ, सभी कर्म व्यर्थ हैं।"** दुनिया में तीन चीजें अत्यंत दुर्लभ हैं –

1. मनुष्य जन्म,
2. मुक्ति की प्रबल इच्छा (मुमुक्षुत्व),
3. महान पुरुषों का संग।

ये तीनों मिलकर भी यदि आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, और जीवनमुक्ति नहीं पाई, तो यह अपने ही जीवन की हत्या करने जैसा है। श्री समर्थ रामदास स्वामी ने दासबोध, दशक 8 (ज्ञान दशक), समास 8 (आत्मदर्शन) में इसी विषय का विस्तार से विवेचन किया है।

परमार्थ का मुख्य उद्देश्य आत्म दर्शन है—स्वयं के आत्म स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव। 'दर्शन' अर्थात प्रत्यक्ष मिलना। समर्थ रामदास स्वामी ने यह बात बहुत विस्तार से बताई है कि परमात्मा वही है जो "तू" स्वयं है। परमात्मा की पहचान इस प्रकार दी है: उसे जन्म नहीं, मृत्यु नहीं; आना-जाना नहीं; न बंधन, न मोक्ष—कुछ भी नहीं। परमात्मा निर्गुण, निराकार, नित्य, निरंतर, अनंत, और अतर्क्य है।

समर्थ रामदास का उद्देश्य यही है कि – **"तू ही स्वयं परमात्मा है"– यह बोध हृदय में उतर जाए।** यही बोध मिल जाए, तो अखंड संतोष, पूर्ण शांति और अविरत आनंद प्राप्त होता है।

सच्चा परमात्मा कौन?

जो देश, काल, वस्तु के सभी सीमाओं से रहित है; जो अखंड है, अद्वैतीय है, सबको आधार देता है, पर स्वयं निराधार है; निर्लेप है, नित्य-नूतन है। यही परमात्मा “तू” स्वयं है- ऐसा वे समझाते हैं।

पंचमहाभूतों में श्रेष्ठ और सबसे विशाल आकाश है। इसलिए आत्मा को ‘आकाश के समान’ कहा जाता है। पर वास्तव में यह उपमा पर्याप्त नहीं, क्योंकि आकाश का अर्थ रिक्तता या शून्यता भी होता है, जबकि आत्मा शून्य नहीं—वह परिपूर्ण है। आत्मा की कोई उपमा नहीं दी जा सकती—क्योंकि उसके समान दूसरा कुछ है ही नहीं। अतः वह अनुपमेय, अदृश्य, अगोचर, अव्यक्त और गुप्त है। इसलिए समर्थ कहते हैं- **“गुप्त (आत्मा) को प्रकट करना है; कठिन को साधना है; और क्षेत्र, मार्ग, उपदेश – सबका अभ्यास धीरे-धीरे करना है।”**

इसलिए एक श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर उनका बोध ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। क्योंकि – **“सद्गुरु का बोध हृदय में धारण करने वाला ही मोक्ष का अधिकारी है।”**

सद्गुरु की शरण गए बिना तारने का कोई उपाय नहीं; अतः सद्गुरु के पाद पकड़ने चाहिए, और उनके बताए अनुसार साधन करना चाहिए। साधना दो प्रकार की है—

1. **परंपरा साधना (पिपीलिका मार्ग)** – चींटी की चाल जैसा धीमा मार्ग। इस मार्ग से आत्मसाक्षात्कार शीघ्र नहीं होता।

2. **प्रत्यक्ष साधना या विहंगम मार्ग** – पक्षी जैसे ऊँची उड़ान वाला। इसमें चार सीढ़ियाँ हैं:

- श्रवण
- मनन
- निदिध्यासन
- साक्षात्कार

इसे ही साधन-चतुष्ट कहते हैं। पहले तीन ‘साधन’ हैं, चौथा ‘साध्य’ है—आत्मसाक्षात्कार। यह तीव्र गति वाला मार्ग है और इसी से आत्मसाक्षात्कार शीघ्र होता है।

इसी प्रकार – **“सर्व देव नमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति”** – अर्थात सभी में एक ही ब्रह्म है, और हम भी वही ब्रह्म (आत्मा) हैं। इसलिए बाहर परमात्मा को ढूँढने की

अपेक्षा अपने भीतर खोजना सरल है। जब तक खोज करने वाला 'मैं' मौजूद है- जो जीव-निश्चय, अहंकार, मै और अज्ञान का आधार लेकर खड़ा है, तब तक 'आत्मा ही मैं हूँ' यह दृढ़ निश्चय नहीं होता। पर यह कठिन इसलिए लगता है कि खोजने वाला (जीव–मीपणा–अहंकार) अलग होकर खोजता है। जब तक खोजने वाला अलग है, तब तक आत्मबोध सिद्ध नहीं होता। आत्मा 'त्रिपुटी-विहीन' है—

(1) जानने वाला

(2) जानने की क्रिया

(3) जानने का विषय

ये तीनों उसमें नहीं हैं। जब तक 'जाणणारा' (अहंकार) है, तब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं होता।

जो भक्त "अपने आप को ही समर्पित" (आत्मनिवेदन) कर देता है—उसे आत्म साक्षात्कार शीघ्र होता है। इसलिए पहले यह देखना चाहिए – **"मैं कौन"** फिर निर्गुण परमात्मा को पहचानना चाहिए। देव और भक्त अंततः एक ही हैं; विभक्त नहीं। विभक्त रहकर दोनों एक नहीं हो सकते। मूल खोजने पर देव और भक्त का एकत्व सिद्ध होता है। यही 'आत्मनिवेदन भक्ति' है।

नवविधा भक्ति में 'आत्मनिवेदन' सर्वोत्तम और निर्गुण भक्ति है। इस भक्ति से 'सायुज्य मुक्ति' मिलती है। चार मुक्तियों में –

- सालोक्य
- सामीप्य
- सारूप्य

ये तीन नाशवान हैं। पर **सायुज्य मुक्ति शाश्वत** है। इससे मन उन्मन हो जाता है और मनुष्य जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होता है। और इसी से मनुष्य **सच्चिदानंदरूप (परब्रह्म)** हो जाता है।

जय सद्गुरू

– अनंत कल्याणराव कुलकर्णी

पुणे

(श्री समर्थ गणपतराव महाराज शांति कुटीर कन्नूर के शिष्य)

श्री दासबोध में सख्य भक्ति विवरण

नवविधा भक्ति में सख्य भक्ति का विषय देखते समय, पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि समर्थ रामदास ने दासबोध में 'भक्ति' का प्रतिपादन कसे किया है। पहले ही समास में समर्थ कहते हैं –

"ग्रंथा नाम दासबोध । गुरु-शिष्यांचा संवाद । येथ बोलीला विशद । भक्तीमार्ग ॥"

भक्ति क्या है?

पूज्य के. वी. बेलसरे जी ने दासबोध के स्पष्टीकरण में इसे बहुत सुंदर बताया है- 'भज सेवायाम्'... अर्थात भगवान की सेवा करना ही भक्ति है! जिस भगवान की सेवा करनी है, उसके प्रति मन में निरंतर शुद्ध प्रेम और आस्था होना आवश्यक है। भक्ति अपने स्वभाव से ही प्रेमरूप है। नारद मुनि ने भी भक्ति सूत्र में कहा है कि परमात्मा के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।

समर्थ रामदास के वाङ्मय की विशेषता यह है कि उन्हें जितनी प्रिय भक्ति थी, उतनी ही प्रिय उसमें समाई बुद्धि और शक्ति भी थी। विवेक और विचार तो उनका प्राण–स्वरूप ही थे। इसलिए उनकी भक्ति जागरूक और विवेकपूर्ण थी। अंधश्रद्धा, मूर्खता, भोलापन या भोला भाव – ये उन्हें बिल्कुल स्वीकार्य नहीं थे। उन्हें विवेक-सहित भक्ति ही प्रिय थी।

भगवान के लिए मन का द्रवित होना, विरह में व्याकुल होना, मन में तड़प पैदा होना और भावावस्था में भगवान का अनुभव होते ही उनके ऐक्य का आत्मानंद पाना – इन सब रूपों में सच्ची भक्ति की अनेक अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। जिसका जैसा

भाव होगा, उसे वैसा ही देव-प्राप्त होगा। **"भावेची पाविजे देव"** – यह समर्थ रामदास का अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है।

दासबोध का **चौथा दशक** केवल नवविधा भक्ति पर आधारित है- श्रवण, कीर्तन, विष्णुस्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। इन प्रत्येक भक्ति की सुंदर और सटीक व्याख्या समर्थ रामदास ने दासबोध में की है। हर भक्ति का समास एक स्वतंत्र प्रबंध जैसा प्रतीत होता है! भक्ति का इतना विस्तृत वर्णन आश्चर्यचकित करता है।

समर्थ रामदास के भक्ति-निरूपण का एक और विशेष गुण यह है कि - अधिकांश संत जब भक्ति की बात करते हैं, तो वे पारमार्थिक (अद्वैत) स्तर पर बोलते हैं; लेकिन समर्थ रामदास का निरूपण थोड़ा अलग और अधिक व्यापक है।

भक्ति-योग का आचरण करते समय प्रत्येक साधक को व्यवहारिक स्तर से उठकर पारमार्थिक स्तर की ओर उन्नति करनी होती है। यह यात्रा अत्यंत कठिन होती है, परंतु उसके सूक्ष्म पहलू समर्थ रामदास ने बहुत ही सुंदर और स्पष्ट रूप से समझाए हैं।

दासबोध के दशक चार, समास आठ में सख्य भक्ति का वर्णन बत्तीस ओवियों में किया गया है। समर्थ कहते हैं- "देव से परम सख्य भाव रखना चाहिए, प्रेम और प्रीति से उसे बाँधना चाहिए। यही आठवीं भक्ति का लक्षण जानना चाहिए।"

सख्य का अर्थ है प्रेम। सखा अर्थात मित्र – जो हमारे जीवन के अत्यंत निकट रहता है, हृदय का अंतरंग होता है। जिस प्रकार हर व्यक्ति का एक खास, अंतरंग मित्र होता है, जिसके सामने हम मन के गुप्त भाव, अपने अंतरतम के विचार पूरी निश्चिंतता और विश्वास से प्रकट कर सकते हैं – जिन्हें हम किसी और से कभी नहीं कहते, पर उस अंतरंग मित्र से बेहिचक साझा करते हैं – वही सखा कहलाता है।

जैसा यह संबंध व्यवहार में दिखाई देता है, वैसा ही परमार्थ में भी होता है। भक्त और भगवान के बीच का सख्य-भाव, प्रेम – यह अवर्णनीय होता है। वहाँ द्वैत का एक कण भी शेष राहत नहीं।

अपना संपूर्ण जीवन भगवान को अर्पित कर देना, पूर्ण शरणागति स्वीकारना - और यह दृढ़ भावना कि "जो कुछ मेरा है, वह सब तेरा ही है" – यही सख्य है।

जिस प्रकार नदी समुद्र में मिलकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो देती है, उसी प्रकार भक्त भगवान में लीन हो जाता है। और सखा-भाव के कारण स्वयं भगवान भी भक्त के प्रेम से बंध जाते हैं – अन्यथा उन्हें किसी भी बंधन में बांधा नहीं जा सकता।

सख्य भक्ति में भगवान और भक्त का संबंध बिल्कुल विलक्षण होता है। भगवान करुणासागर, कृपासिंधु हैं – और भक्त को भी अपना अंत:करण भगवान के समक्ष पूर्ण रूप में खोल देना चाहिए। भगवान का यह मंगलमय मित्रत्व, उनका सखेपन का मधुर भाव – सब सख्य भक्ति में अनुभव होता है।

अत्यंत महत्वपूर्ण बात यह है कि भगवान की जो इच्छा है- वही धर्म होता है, वही सच्चा शास्त्र होता है, वही कर्तव्य होता है, और वही सही व्यवहार बन जाता है। ऐसे भक्त के मन में कभी लोभ, द्वेष, ईर्ष्या जैसे दोष नहीं रहते। शरीर–सुख के प्रति गहरी विरक्ति, सभी जीव-जंतुओं के प्रति गहरी करुणा, भगवान के प्रति अटूट प्रेम – ये सख्य-भक्ति (भगवान से मित्रवत प्रेम) के मुख्य लक्षण हैं।

ऐसे भक्त को सख्य-भाव बनाए रखने के लिए क्या करना चाहिए, यह बताते हुए श्री समर्थ कहते हैं:

भक्ति-भाव और भजन, वर्णन और कथा-कीर्तन, प्रेमी भक्तों का गायन- इन्हें भगवान पसंद करते हैं। जैसा भगवान चाहते हैं, वैसा ही आचरण करना चाहिए; जो उन्हें प्रिय है, वही हमें भी प्रिय होना चाहिए; मन की सहज प्रवृत्ति को भगवान के अनुरूप बनाना चाहिए – तभी सख्य-भाव दृढ़ होता है।

भगवान को अपना सखा (मित्र) मानने वाले भक्तों को हमेशा, हर समय भगवान का भजन भक्ति-भाव से करना चाहिए। सत्संग करना चाहिए। ज्ञानी संतों के पास साधना करनी चाहिए। अध्ययन करना चाहिए। जहाँ भी जाएँ, वहाँ निरूपण, कथा-कीर्तन और संगीत के माध्यम से भगवान के गुण, रूप और लीलाओं का गुणगान लोगों तक पहुँचाना चाहिए।

यह सब कब संभव होगा? जब हम तन, मन और धन से पूरी तरह भगवान के हो जाएँगे। जब हमारा भजन, चिंतन और मनन केवल उनके गुण, रूप और लीलाओं में लगेगा – तभी सच्चा सख्य-भाव (भगवान से मित्रवत संबंध) पूर्ण रूप से सिद्ध होता है।

“देवाच्या सख्यत्वा कारणे | आपले सौख्य सोडून देणे | भजन भावे जीव प्राणे |
शरीर तेही वेचावे ||”(४/८/६)

भावार्थ: भगवान से सख्य-भाव (मित्रता) रखने के कारण अपने व्यक्तिगत सुखों का त्याग करना चाहिए। भक्ति और भजन में मन–प्राण समर्पित करने चाहिए। और

आवश्यकता पड़े तो शरीर भी अर्पित करना चाहिए।

व्यवहार में हम सामान्य भक्त विषय-वासना के दोषों से भरे हुए हैं। स्वार्थ, अहंकार, ममता और ईर्ष्या ने हमें घेर रखा है। हम देह बुद्धि के आधार पर जीना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। लेकिन यदि भगवान का सख्य-भाव (मित्रत्व) पाना है, तो यह इतना आसान नहीं है।

इसके लिए त्याग चाहिए, भगवान पर अनन्य प्रेम चाहिए, और पूर्ण शरणागति चाहिए। व्यवहार में जो स्वार्थी प्रेम और अहंकार है – उसे पूरी तरह छोड़ना पड़ता है। और यदि समय आए तो भगवान को पाने के लिए अपने प्राण तक न्योछावर करने की तैयारी रखनी चाहिए। जब यह सब साध्य होता है, तभी सख्य-भक्ति वास्तव में प्राप्त होती है।

"देवाच्या सख्यत्वा साठी | पडाव्या जीवलगांशी तुटीI सर्व अर्पावे, सेवटी | प्राण तोही वेचावा || आपुले आवघेची जावे | परी देवासी सख्य राहावे | ऐसी प्रीती जीवेभावे | भगवंती लागावी || देव म्हणजे आपुला प्राण | प्राणासी न करावे निर्वाण || परम प्रीतीचे लक्षण | ते हे ऐसे असे || (द४./८/९/१०)

भावार्थ: भगवान के सख्यत्व (मित्रत्व) के लिए ज़रूरत पड़े तो अपने अत्यंत प्रिय जनों से भी दूरी सहनी पड़े। सब कुछ अर्पित करना चाहिए, और अंत में अपने प्राण भी समर्पित करने पड़ें तो करना चाहिए। अपना सब कुछ चला जाए तो चले, लेकिन भगवान से सखा-भाव बना रहना चाहिए। ऐसी प्रीति पूरे मन–प्राण से भगवान से जोड़नी चाहिए। भगवान ही हमारे प्राण हैं- और उन प्राणों से अलगाव कभी नहीं करना चाहिए। परम प्रेम का यही लक्षण है-यही उसकी सच्ची पहचान है।

भगवान का सख्य-भाव (मित्रत्व) प्राप्त करने के लिए अपने सबसे निकट के "जिवलग" दोष – काम, क्रोध, अहंकार, दंभ, शोक – इन सबसे दूरी बनानी पड़ती है। अपने व्यक्तिगत सुख – आराम, विश्राम, आलस, सुख-सुविधा, निद्रा – इनका त्याग कर शरीर को तपाना पड़ता है। इस मार्ग में अपनी जान की भी परवाह न करते हुए प्राण अर्पित करने की तैयारी रखनी पड़ती है। श्वास तक को सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनाकर, भगवान को ही अपना प्राण समझकर भक्ति करनी-यही परम प्रेम का लक्षण है।

समर्थ आगे कहते हैं कि जब भक्त और भगवान का यह सख्य-भाव बन जाता है, तो भगवान को भी भक्त की चिंता रहने लगती है। भक्त यदि एक कदम बढ़ता है,

तो भगवान दो कदम आगे आते हैं। भगवान इतने दयालु, वात्सल्य पूर्ण और मायाळू हैं कि भक्त को तुरंत स्वीकारते हैं। भक्ति के अनेक प्रकार – मित्रभाव, वात्सल्यभाव, भक्तिभाव, दास्यभाव – इनसे ही सख्य-भाव की स्थापना होती है।

मित्रभाव के उदाहरण:

१. श्रीराम और सुग्रीव

रामायण में सुग्रीव और श्रीराम का सख्य अत्यंत मंगलमय है। सीता की खोज के लिए श्रीराम सुग्रीव के पास आए, वहाँ उनकी मित्रता पक्की हुई। पहले श्रीराम ने सुग्रीव के लिए वाली का वध किया और उसे राज्य सौंपा। धर्मपूर्वक शासन स्थापित किया। इसके बाद सुग्रीव ने भी श्रीराम का साथ कभी नहीं छोड़ा। राम–रावण युद्ध में प्राणों की बाजी लगाकर वह लड़े। और युद्ध के बाद अयोध्या में राम के राज्याभिषेक के समय खुद कंधे से कंधा मिलाकर साथ खड़े रहे। यह है सच्ची सख्य-भक्ति!

२. श्रीराम और केवट

केवट एक साधारण नाविक था, लेकिन उसके मन में श्रीराम के प्रति अत्यंत प्रेम और सख्यभाव था। वनवास के समय उसने राम, सीता और लक्ष्मण को अपनी नाव से गंगा पार करवाया। राम द्वारा दिए गए धन को उसने स्वीकार नहीं किया। वह प्रेम से बोला – “हम दोनों मित्र हैं। मैं तुम्हें नदी के इस पार ले जाता हूँ, तुम भवसागर पार कर लोगों को मोक्ष देते हो। मित्र दुसरे मित्र से कुछ लेता है क्या?” साधारण केवट और अवतारी श्रीराम – फिर भी मित्रता का ऐसा अद्भुत नाता! “मैं और तू अलग नहीं” – यही उसका भाव। कितनी ज़बरदस्त सख्यभक्ति!

३. श्रीकृष्ण और अर्जुन

महाभारत में श्रीकृष्ण और अर्जुन की सख्य-भक्ति सर्वत्र उदाहरण मानी जाती है। अर्जुन ने कृष्ण को अपना सखा कहा है। जब युद्ध का समय आया- दुर्योधन ने श्रीकृष्ण से सेना माँगी, और अर्जुन ने स्वयं श्रीकृष्ण को चुना। उसे इस पर परम आनंद हुआ। अर्जुन की श्रद्धा, निष्ठा और विश्वास असीम था। उस प्रेम को देखकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ के सारथ्य का कार्य स्वयं स्वीकार किया। जीवन भर पांडवों के सुख-दुःख में श्रीकृष्ण दृढ़ता से उनके साथ खड़े रहे।

श्रीकृष्ण–सुदामा ये भी मित्रता और सख्यभाव का अद्भुत उदाहरण हैं। जब सुदामा उनसे मिलने आए, तब राजा होते हुए भी श्रीकृष्ण दौड़कर द्वार तक पहुँचे। उन्होंने आठ दिनों तक उनकी सेवा की। सुदामा की पुरानी थैली में रखे हुए चिपटे चावल (पोहे) बड़े प्रेम से खाए। सुदामा घर पहुँचने से पहले ही श्रीकृष्ण ने उसकी पूरी नगरी धन-धान्य से भर दी। मित्रत्व और सख्यभाव का कितना अद्वितीय उदाहरण!

वात्सल्य भाव: श्रीकृष्ण और यशोदा।

परब्रह्म स्वरूप कृष्ण को यशोदा ने अज्ञानवश, लेकिन मातृ स्नेह से पूर्ण प्रेम पूर्वक पाला। उनके निर्मल प्रेम का आनंद स्वयं श्रीकृष्ण परमात्मा लेते थे। सख्य-भक्ति का यह कितना मधुर, अवीट भाव!

मधुर भाव: मीराबाई और श्रीकृष्ण

मीरा की छोटी उम्र में उनकी सहेली का विवाह हुआ। उन्होंने अपनी माँ से पूछा – "मेरा पति कहाँ है?" इसी बीच एक संन्यासी आया और उसने मीराबाई को श्रीकृष्ण की मूर्ति दी। उन्हें लगा – "यही मेरे पति हैं।" उस दिन से श्रीकृष्ण ही उनके सर्वस्व बन गए। माँ और सास ने समझाया, ससुराल और समाज ने उन्हें विष तक दिया, पर मीरा अटल रहीं – "मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई…" यह भी सख्यभाव का अप्रतिम रूप है।

भक्तिभाव: श्री समर्थ–कल्याणस्वामी, श्री समर्थ–वेण्णास्वामी

कल्याण स्वामी समर्थों के अत्यंत परम शिष्य थे। "कल्याणा छाटी उडाली रे…" यह आदेश पूर्ण होने से पहले ही उन्होंने किले से छलांग लगा दी। समर्थ ने उन्हें सुरक्षित उठा लिया, लेकिन अन्य शिष्यों को यह दिखा दिया कि सख्यभाव और समर्पण कैसा होना चाहिए।

वेण्णास्वामी को समाज ने विष पिलाया। तब समर्थों ने पिता की तरह उन्हें अपना बना लिया। वेण्णास्वामी समर्थों के चरणों में कीर्तन करते करते प्राणोत्सर्ग कर गए – ऐसी अटल सख्यभक्ति!

जनाबाई–विठ्ठल

संत नामदेव जी के घर में दासी के रूप में रहने वाली जनाबाई, पर उसका आधार

एकमात्र विठ्ठल था। सारे श्रम सहते हुए भी वह विठ्ठलमय रहती। उसकी अनन्य भक्ति देखकर विठ्ठल स्वयं उसका आधार बन गए। विठ्ठल और जनाबाई एकरूप हो गए – सख्यभाव की अनोखी अनुभूति।

श्रीकृष्ण–गोप-गोपिकाएँ, श्रीकृष्ण–उद्धव

परमात्मा स्वरूप श्रीकृष्ण गोप–गोपिकाओं के प्रेम में पूर्णत: रम गए थे। आठ वर्ष की आयु में वे मथुरा गए और फिर कभी वापस नहीं आए, फिर भी गोप–गोपिकाएँ उन्हें एक क्षण भी न भूलीं। उनका प्रेम कभी टला नहीं। श्रीकृष्ण द्वारका के राजा बने, लेकिन गोप–गोपिकाओं का प्रेम उन्हें जीवन भर मिलता रहा। ऐसा सख्यभाव दुर्लभ है। उद्धव भी श्रीकृष्ण के अत्यंत प्रिय ज्ञानी भक्त थे। उनमें सदैव अत्यंत अनन्य समर्पण भाव था।

दास्यभाव से सख्यभाव का उत्कर्ष: श्रीराम–हनुमान

प्रेम का सर्वोच्च रूप है – दास्यभाव की सिद्धि और उसका सख्यभाव में परिवर्तन। श्रीराम और मारुति (हनुमानजी) इसका सर्वोत्तम उदाहरण हैं। पूरे जीवन हनुमान का जीना, बोलना, चलना – सब राममय। एक श्लोक में हनुमान कहते हैं – "हे राम, पहले मैं तुम्हारा भक्त हूँ, तुम्हारा दास हूँ। लेकिन अब आत्मदृष्टि से लगता है कि तू और मैं एक ही हैं।

इतना गाढ़ा सख्यभाव! यही प्रेम समर्थ रामदास स्वामी और श्रीराम के बीच भी था। आठ वर्ष की आयु में घर छोड़कर जीवन भर रामनाम का प्रचार करने वाले समर्थ सख्यभक्ति की महान मिसाल हैं।

देशभक्ति में भी यही सख्यभाव भगवंत के प्रति सख्यभाव जैसे, देश के लिए प्राणार्पण करने वालों में भी वही भावना। लोकमान्य टिळक, आगरकर, सावरकर, और स्वतंत्रता के लिए प्राण देने वाले असंख्य युवा क्रांतिकारी – ये सब सख्यभक्ति के ही मूर्त रूप। श्री गोलवलकर गुरुजी ने भी एक सूत्र दिया – "मैं नहीं, तू" पूर्ण शरणागत और समर्पण का सार।

समर्थ सख्यभक्ती का सार:

समर्थ कहते हैं – परमेश्वर अनाथों का नाथ, पतितपावन, भक्तों का सहायक, उपासकों

का अंतरसाक्षी, कृपा और करुणा का सागर है। वह शरणागत को सदैव अभय देता है। इसलिए अनन्य भाव, समर्पण और शरणागति – यही सख्यभक्ति की विशेषता है। भक्त की निष्ठा डगमग न हो कभी-कभी भक्त की निष्ठा डोल सकती है। इसलिए समर्थ कहते हैं – “हमारी इच्छा के अनुसार कोई बात न भी घटे, तो निष्ठा न टूटनी चाहिए। वह घटना भी किसी कारण से ही हमारे पास आई है।” यदि मेघ चातक को जल न दें,तो भी चातक बादलों पर प्रेम नहीं छोड़ता। यदि चंद्रमा देर से उगे, तो भी चकोर उसका चांदनी-प्रेम नहीं त्यागता। ऐसी ही अटूट निष्ठा भक्त की भी होनी चाहिए।

सद्गुरु के प्रति भी वही सख्यभाव समर्थ कहते हैं – “जैसा देव, वैसा गुरु।” भगवान पर जैसे श्रद्धा हो, वैसी ही श्रद्धा सद्गुरु पर भी हो। दोनों एक ही तत्त्व हैं।

सख्यभक्ति का मर्म

दासबोध के आठवें समास में समर्थ कहते हैं – सख्यभक्ति का अधिकारी केवल भगवान या सद्गुरु ही है। उनसे मन और तन से एकरूप होकर रहना चाहिए। अपने मन की सारी बातें केवल उन्हें बतानी चाहिए। वे ही सच्चे सखा हैं; दुनिया की तरह स्वार्थी नहीं।

शरण आए हुए को कभी दूर नहीं करते। इस प्रकार भगवान और सद्गुरु को सदा–सर्वदा अपना सखा बनाना चाहिए। ऐसी उपासना का श्रेष्ठ फल भक्त को अवश्य मिलता है। यही सख्यभक्ति का मर्म है।

“जय जय रघुवीर समर्थ”

– डॉ.सौ. रसिका विलास ताम्हनकर
वाशी, नवी मुंबई

अंतरआत्मा श्रीरंग

आज के युग में भले ही 'अध्यात्म' यह शब्द लोगों के ज़्यादा उपयोग में नहीं है, लेकिन सोशल मीडिया के प्रभाव में हम देखते हैं कि मराठी भाषी हों या अंग्रेज़ी में लिखने वाले,..दोनों ही 'आत्मा' या 'soul' शब्द का बहुत सहज और सामान्य रूप से उपयोग करते हैं। किसी WhatsApp ग्रुप में जब किसी व्यक्ति का निधन होता है, तो उस दिवंगत व्यक्ति को भावपूर्ण श्रद्धांजलि देने के लिए तैयार-रेडीमेड 'नमस्कार' वाली पोस्ट डालकर 'आत्मा को शांति मिले' वाला मैसेज तुरंत ग्रुप में वायरल हो जाता है। इतना तो सच है कि इससे यह बात सबके ध्यान में आती है कि जिस व्यक्ति के शरीर में जब तक जीवन था, तब तक उसमें 'आत्मा' नाम का कोई भाग था, जो शरीर के मृत होते ही उससे बाहर निकल गया। लेकिन यह समझ भी बस उसी प्रसंग तक सीमित रहती है- जैसे श्मशान वैराग्य!

अध्यात्म शास्त्र का अध्ययन करने वाले लोग 'आत्मा' को एक स्वतंत्र अध्ययन का विषय मानते हैं। 'अध्यात्म' शब्द में ही 'आधी आत्मा' (पहले आत्मा) यह अर्थ छिपा हुआ है – अर्थात, पहले यह समझना कि आत्मा वास्तव में क्या है, यही अध्यात्म शास्त्र सिखाता है। भारतीय दर्शन का यही मुख्य आधार है। वेद–वेदांत, उपनिषदें, विभिन्न धर्मग्रंथ, कई शास्त्र, पुराण, संत साहित्य और संपूर्ण भारतीय दर्शन में इसी विषय का सूक्ष्म और गहन विश्लेषण किया गया है। लेकिन इतना सब होते हुए भी, हम में से लगभग सभी लोग मृत्यु तक इस विषय पर – कि "हम वास्तव में कौन हैं?" इस विचार में अधिक गहराई से नहीं पड़ते। ऐसा नहीं कि हम सभी को यह विषय समझ में नहीं आता – समझ में आता है, लेकिन समझने के बाद भी उस पर चलना नहीं होता, यही सच्चाई है!

शिवगीता में भगवान कहते हैं:

|| नाना शास्त्रं पठेल्लोको नानादैवत पूजनं | आत्मज्ञानं विना पार्थ सर्व कर्म निरर्थकम ||

अर्जुन के माध्यम से भगवान कृष्ण कहते हैं कि यदि अपने स्वयं के स्वरूप का ज्ञान, यानी आत्मज्ञान, नहीं है, तो केवल ग्रंथों का पाठ करना या देव-देवताओं की पूजा करना – इनका कोई वास्तविक लाभ नहीं होता।

जिन्होंने वेद, उपनिषद, गीता, शास्त्रें और पुराणों का गंभीर अध्ययन करके सार्थ श्री दासबोध जैसा महान ग्रंथ लिखा, वे समर्थ रामदास स्वामी इस विचार को और आगे बढ़ाते हुए इस श्लोक के समर्थन में कुछ और बातें जोड़ते हैं। दासबोध की यह ओवी है:

ध्यान धारणा मुद्रा आसन । भक्ति भाव आणि भजन ।
सकळ हि फोल – ब्रह्मज्ञान । जव तें प्राप्त नाहीं ॥ (५/१/३६)

अर्थ: ध्यान, धारणा, मुद्रा, आसन, भक्ति-भाव, भजन – ये सब निरर्थक (व्यर्थ) हैं, यदि ब्रह्मज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त न हो।

लेकिन इस श्लोक या ओवी का उद्देश्य यह कहना नहीं है कि बाकी सब कुछ बेकार है।

असल उद्देश्य यह है कि आत्मज्ञान को पहचानना और समझना – जीवन में सबसे पहले और सबसे महत्वपूर्ण है। इसी कारण इसे 'अध्यात्म' कहा गया है - अर्थात "पहले आत्मा" या "सबसे पहले आत्मज्ञान"।

सार्थ ज्ञानेश्वरी के पहले अध्याय की पहली ओवी **'ॐ नमो जी आद्या । वेद प्रतिपाद्या ।जय जय स्वसंवेद्या । आत्मरूपा ॥ (१-१)** यह ओवी आत्मस्वरूप की महिमा बताती है। ॐकार ही परमात्मा है – इस अनुभव (प्रत्यय) के साथ श्री ज्ञानदेव ने ग्रंथ की शुरुआत की है। सभी का मूल कारण बनने वाले और वेदों के प्रतिपाद्य विषय (जिनका वेदों में वर्णन व लक्ष्य है) ऐसे स्वयं-अनुभव से जाने जाने वाले ॐकार स्वरूप आत्मा को ज्ञानोबा माऊली प्रणाम करते हैं और उसका जय-जयकार करते हैं।

आपण वस्तु सिद्धचि आहे | मन मी ऐसें कल्पू नये |
साधु सांगती उपाये | तूंचि आत्मा ||(दा.८/१०/७५)

श्री समर्थ रामदास स्वामी द्वारा रचित 'आत्माराम' ग्रंथ की महिमा बताते हुए ब्रह्मचैतन्य श्री गोंदवलेकर महाराज ने उल्लेख किया है: सार्थ श्री दासबोध, पुराना दासबोध, करुणाष्टक, मनाचे श्लोक आदि समर्थ वाङ्मय में समर्थ रामदास स्वामी ने अपना सम्पूर्ण अंतःकरण डाल दिया । लेकिन 'आत्माराम' में उनका हृदय मिलता है। केवल बंधन में पड़े व्यक्ति (बद्ध) ही नहीं, बल्कि सिद्ध पुरुष को भी 'आत्माराम' से परमार्थ सीखना चाहिए।" श्री रामदास स्वामी ने, अपने महानिर्वाण के बाद शोकाकुल हुए अपने परमशिष्य कल्याण के कल्याणार्थ समाधि से पुनः सजीव दर्शन दिया, और उस माध्यम से समस्त जगत को यह आश्वासन दिया: मेरी काया और वाणी भले ही तुम कहो कि चली गई, पर अंतःकरण से कहूँ- मैं संसार में जीवों के साथ सदैव उपस्थित हूँ!! 'आत्माराम' और 'दासबोध' ये दोनों ही मेरे सिद्ध स्वरूप हैं; जब ये उपलब्ध हैं, तो भक्तों को किसी तरह का दुःख या खेद नहीं करना चाहिए।

इसी से 'आत्माराम' ग्रंथ का विशेष महत्त्व प्रकट होता है।

इस लेख के माध्यम से, समर्थ रामदास स्वामी द्वारा रचित "आत्माराम" ग्रंथ के आधार पर हर व्यक्ति के अंतरंग में विद्यमान चैतन्यरूप आत्माराम का शोध-आत्मज्ञानी संत श्री निसर्गदत्त महाराज के निरूपणों की सहायता से अंतरंग में स्थित श्रीरंग (आत्मस्वरूप) कैसे अधिक स्पष्ट होता जाता है, यह ये एक छोटा-सा प्रयास है। जैसा ऊपर उल्लेख किया है, सद्गुरु श्री गोंदवलेकर महाराज जी ने अपने निरीक्षण में दो अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया है-पहला "अंतःकरण" और दूसरा "हृदय"। स्वाभाविक ही यह प्रश्न मन में आता है कि उन्होंने ऐसा क्यों कहा?

किसी बात का केवल अंतःकरण में बसना और उसका हृदय में तीर की तरह आर-पार उतरना-इन दोनों में तीव्रता और प्रभाव में बेहद अंतर है। समर्थ स्वामी ने उसी तीव्रता और निश्चित परिणाम का विचार किया है।

'आत्माराम' के पहले समास की २०वीं ओवी में समर्थ रामदास स्वामीजी बताते हैं कि उन्हें यह ग्रंथ लिखने की आवश्यकता क्यों महसूस हुई:

दासबोधीचे समासी | निर्मूळ केले मीपणासी | त्या निरुपणेही वृत्तीसी | पालट दिसेना ||

अर्थ: दासबोध के समासों द्वारा मैंने 'मीपणा' (अहंभाव) को जड़ से हटाने का प्रयत्न किया, फिर भी व्यवहार और वृत्ति में अपेक्षित परिवर्तन दिख नहीं रहा था।

जीवन में श्रवण (सुनना) का महत्त्व और महिमा दासबोध में अनेक स्थानों पर बार-बार बताई गई है। चौथे दशक से ही श्रवण, मनन और निदिध्यास पर साधकों को विस्तृत उपदेश दिया गया है। भक्तिभाव हो, अध्यात्म की रुचि हो - फिर भी हम चाहे जितना सुनें, चाहे जितना पढ़ें, सामान्य मनुष्य की एक स्वभावगत प्रवृत्ति होती है – ***"ये रे माझ्या मागल्या"*** यानी बिना भीतर बदले सिर्फ बाहरी आदतें जारी रहने वाली वृत्ति। समर्थ यह बात भली-भांति जानते थे। क्योंकि जब तक आत्मबोध सीधा हृदय में प्रवेश नहीं करता, तब तक हमारी वृत्ति में अपेक्षित परिवर्तन नहीं होता। और जब तक वह परिवर्तन नहीं होता, तब तक पढ़ना-सुनना सिर्फ बाहरी, सतही रहता है! अंतरंग में परिवर्तन नहीं हुआ, वृत्ति में बदलाव नहीं आया – इसका अर्थ है कि पढ़ने-सुनने का परिणाम भीतर तक पहुँचा ही नहीं। किस परिवर्तन की बात है? वह परिवर्तन जो व्यवहार में उतरता है -हम स्वयं अनुभव करते हैं कि धीरे-धीरे हमारी वृत्ति बदलने लगती है। "मेरा-तेरा, मैं-तू" का भेदभाव धीरे-धीरे कम होता जाता है। जैसा कि संत एकनाथ महाराज कहते हैं – "अंदर राम, बाहर राम; जित देखूँ तित राम ही राम!" ऐसी वृत्ति होना तो संत पद की उपलब्धि है। और वह पद दीर्घ साधना, उपासना, अद्वैतभाव, सद्गुरुभक्ति और सद्गुरुकृपा से ही प्राप्त होता है!

श्री निसर्गदत्त महाराज की शिक्षाओं में 'वृत्ति' क्या है और वह कैसे बदल सकती है, इसका विस्तृत, गहन विवेचन मिलता है। अब पहले उसी का थोड़ा आकलन करें, और फिर समझें कि 'आत्माराम' ग्रंथ क्यों आवश्यक है और उसका महत्त्व क्या है।

निसर्गदत्त महाराज :

'वृत्त', 'वृत्ती' और 'निवृत्त' – ये तीन अलग शब्द हैं।

वृत्त = ब्रह्म, यानी शुद्ध चेतना

वृत्ती = मन, यानी माया

निवृत्त = परब्रह्म, जहाँ किसी भी चीज़ का अस्तित्व नहीं

साधना और अभ्यास मन (वृत्ती) के लिए होते हैं। वृत्त ज्ञान सबको समान है, लेकिन वृत्ती ज्ञान यानी मन की अनुभूति सबको समान नहीं होती। जैसे नींद में सबके सपने अलग होते हैं, वैसे ही ज्ञान का अनुभव भी अलग होता है।

हम जो "मैं" समझते हैं, वह आत्मवृत्त है, जो समय और परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करता है। उससे निकलने वाली प्रवृत्ति ही मन या वृत्ती है। वृत्ती ही हमारा पूरा संसार है।

जब तक मन (वृत्ती) लगातार इधर-उधर चलता रहता है, तब तक हम ज्ञान के योग्य नहीं हैं।

मन ही माया है और मन ही वृत्ती है। महत्वपूर्ण बात- वृत्ती के अनुसार ही हमारा व्यवहार होता है। वृत्ती की पसंद और इच्छाओं के अनुसार हम बंधन में रहते हैं। मन की इस गतिविधि से भय और तनाव पैदा होते हैं। लेकिन वृत्त (शुद्ध चेतना) को किसी भी चीज़ का भय नहीं होता। जब वृत्तीज्ञान खत्म हो जाता है, तो केवल वृत्तज्ञान यानी शुद्ध चेतना बचती है। उस अवस्था में न मन होता है, न विचार। केवल यह अनुभव होता है: "मैं हूँ।"

श्री निसर्गदत्त महाराज की भाषा की खासियत यह है कि वे रोजमर्रा के शब्दों को अपनी **स्वाभाविक शैली** में तोड़कर समझाते हैं।

जैसे वे ***'वृत्त'*** शब्द का उपयोग करते हैं। हम सभी इस शब्द से परिचित हैं, जैसे **वृत्तपत्र, वृत्तनिवेदिका** आदि, जहाँ 'वृत्त' का मतलब होता है बातमी या समाचार। लेकिन महाराज जब इसे रोजमर्रा के व्यवहार में इस्तेमाल करते हैं, तो वे कहते हैं: **'वृत्त' यानी वह खबर या बात जो आपने सुनी, पढ़ी या कान पर आई**। इसमें **'मी'** अर्थात मैं छिपा हुआ है।

महाराज हमें सोचने पर मजबूर करते हैं कि हर बात में 'मैं' शामिल है। जैसे जब बच्चा जन्म लेता है, तो वह केवल 'मैं हूँ' की खबर लेकर आता है। इसीलिए वे इसे कहते हैं: **'जन्मवृत्त'** या **'बात-मी',** जिसे उन्होंने कभी-कभी **'आत्मवृत्त'** भी कहा है। यदि यह खबर- *"मैं हूँ"*- न आए, तो जन्म लेने वाला, बोलने वाला या सुनने वाला कोई भी अस्तित्व में नहीं हो सकता।

हर व्यक्ति में जो **'मैं हूँ'** की जो अनुभूति है, वही है हमारे **अस्तित्व की खबर** -यानी कि 'हम हैं यह जो ज्ञान है, उसे ही **वृत्तज्ञान** कहा जाता है। यह **वृत्तज्ञान** सबके लिए समान है। इसी ज्ञान के रहते सभी प्रकार का व्यवहार चलता है। लेकिन चूँकि यह व्यवहार देह *और मन* के स्तर पर होता है, इसलिए उसी के अनुसार हमारी **वृत्ति** (मन की प्रवृत्ति) बनती है। यही वृत्ति हर व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करती है। और उसका आधार है केवल यही वृत्त - **'मैं हूँ'**। जब सद्गुरु के बोध से साधक इस स्तर पर पहुँचता है कि **"मैं देह-मन नहीं हूँ",** तब उसकी वृत्ति में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगता है। फिर वह केवल **ज्ञानमूर्ति**, अर्थात शुद्ध **वृत्तज्ञान** से जुड़ा रहता है। देह-मन से अलग होने का अभ्यास शुरू होता है। उस अवस्था में साधक का अनुभव शांत दीपक की लौ जैसा बनने लगता है। मन एकाग्र होता है, विचार धीरे-धीरे कम होने लगते हैं। साधक

के अनुभव में सिर्फ यही अनुभूति रह जाती है -**"मैं हूँ।"**

हर व्यक्ति अपनी भावना, सुविधा, क्षमता और रुचि के अनुसार भक्ति करता है। *"जैसा जिसे भाव है, वही उसकी बड़ी भक्ति है।"* नियमित रूप से दासबोध पढ़ने वाले, कई वर्षों से उसकी पारायण करने वाले अनेक भक्तजन हैं। माया के बंधन से मुक्ति पाने की मन से इच्छा रखने वाले अनगिनत गृहस्थ लोग हैं। अपना आध्यात्मिक जीवन समृद्ध हो, इसके लिए भक्ति-मार्ग का आचरण करने वाले साधक भी हैं।

इन सबके कल्याण की समर्थ रामदास जी को सदैव चिंता रहती थी। ***"कल्याण करी रामराया, जन हित विवरी.."*** – अपने आराध्य देव रामराया से वे हमेशा यही प्रार्थना करते थे। व्यावहारिक जीवन में कैसे व्यवहार करना चाहिए, नवविधा भक्ति क्या है, सद्गुरु कौन है, सत्शिष्य कैसा होना चाहिए – ऐसे अनेक विषयों पर दासबोध में विस्तृत मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

गुरु-शिष्य संवाद के रूप में दो सौ समास पढ़कर और सुनकर यदि शिष्यों के मन में कोई शंका न भी बचे, तब भी समर्थ जानते थे कि कुछ शिष्यों की देहबुद्धि अभी पूर्णत: समाप्त नहीं हुई है। 'देहबुद्धि से आत्मबुद्धि तक' कैसे पहुँचना है, इसका उन्हें अभी पूरा बोध नहीं हुआ। उनका अहंभाव अभी गया नहीं, आत्मनिवेदन-भक्ति का सार उन्हें पूरी तरह समझा नहीं, माया-मोहिनी का रहस्य भी वे नहीं जान पाए।

इसी कारण दयालु समर्थ ने दासबोध जैसे हजारों ओवियों वाले ग्रंथ के मुकाबले केवल **183 ओवियों** का एक छोटा-सा ग्रंथ भक्तों के हाथ में देते हुए कहा कि *"अब कम से कम इस छोटे ग्रंथ को पढ़ो, मनन करो और निःसंदेह बनो।"*

अंततः, अंतरंग में स्थित 'श्रीरंग' (परमात्मा) लोगों को कैसे समझ में आए, इसी चिंता में डूबे हुए समर्थ **आत्माराम** की शुरुआत में कहते हैं...

तुवा आशंका नाही घेतली | परंतु मज तुझी चिंता लागली | का जे तुझी भ्रांती फिटली | नाहीच अद्यापि ||'(आ.१/१९) 'म्हणोनी न पुसता सांगणे | पडले शिष्य तुज कारणे | आता तरी सोय धरणे | श्रवण मननाची||(आ.१/२१).

अर्थ:

(आ. 1/19) तुमने कोई शंका नहीं पूछी, पर मुझे तुम्हारी चिंता लगी है। क्योंकि तुम्हारा भ्रम अभी तक पूरी तरह दूर नहीं हुआ है।

(आ. 1/21) इसीलिए बिना पूछे ही मैं तुम्हें यह बताने लगा हूँ। हे शिष्य! तुम्हारे

ही कारण। अब तो कम से कम श्रवण और मनन का सही मार्ग अपनाओ।

श्री निसर्गदत्त महाराज:

हम जीवन भर सुनते ही रहते हैं... बहुत कुछ! लेकिन सोचिए-इनमें से किस बात ने सच में आपको बदल दिया? जब तक किसी शब्द का असर दिल और दिमाग पर नहीं होता, उसे ज्ञान कैसे कह सकते हैं? हम जीवन भर सुनते रहते हैं, लेकिन कौन-सी बात ने आपके अंदर वास्तव में परिवर्तन लाया? जिस पर बोले हुए शब्द और उनका अर्थ – दोनों का असर नहीं हुआ, उसे भला क्या समझ आया... अच्छा या बुरा? अगर ऐसे ही रहा, तो अगले जन्म में भी आप सुनते ही रहेंगे-बस मनोरंजन के लिए, टाइम पास के लिए... उससे आगे कुछ नहीं होने वाला। जो सुनते हैं उसका बार-बार मन में विचार कीजिए। सिर्फ सुनना ही जरूरी है-ज्यादा दिखावा या सक्रियता की जरूरत नहीं।

श्रवण ▸ मनन ▸ निदिध्यासन इन तीनों के बिना आपकी आध्यात्मिक उलझनें नहीं सुलझेंगी। कितने भी ग्रंथ याद कर लो, सिर्फ रटने से कुछ हासिल नहीं होता।

सद्गुरु के मुख से जो उपदेश हमारे कानों में पड़ता है, उसे ऐसे सुनना चाहिए कि वह वचन सीधे हृदय में उतर जाए। आत्माराम के दूसरे समास में समर्थ यही रहस्य समझा रहे हैं...

शिष्या बहु मन घाली| आता बाष्कळता राहिली | येथे वृत्ती चंचल केली | तरी बुडसी संदेह सागरी ||(२/६)

सिर्फ सुन लेना काफी नहीं है। मन की चंचलता को मेहनत से रोकना पड़ता है, वरना जीवन-भर आध्यात्मिक बातें सुनने पर भी संदेह खत्म नहीं होते। और वही संदेह – ज्ञान प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधा है। परमार्थ मार्ग में जो-जो साधन बताए गए हैं, उन सभी का सार समर्थ रामदास कहते हैं-श्रवण (सुनना) और मनन (विचार करना)।

आध्यात्मिक उपदेश को ध्यान से सुनकर और उसका मन में बार-बार विचार करने से साधक सिद्ध अवस्था तक पहुँच सकता है। श्रवण-भक्ति में इतनी ही अद्भुत शक्ति है। इसीलिए आत्माराम के चौथे समास में वे कहते हैं... **जे सकळ साधनांचे सार, ते हे जाण रे श्रवण ||(४/२)**

क्या केवल श्रवण ही पर्याप्त है? इस ग्रंथ में समर्थ रामदास बहुत स्पष्ट और दृढ

शब्दों में कहते हैं कि हाँ -श्रवण का कोई विकल्प नहीं है। उसकी जगह किसी और साधन से पूर्ति हो ही नहीं सकती। श्रवण आणि मनन | या ऐसे नाही साधन ||(४/५) एकाग्रता से किया गया श्रवण – इसके अलावा तुम्हें और कोई साधन कभी करना ही नहीं पड़ेगा - यह मेरी प्रतिज्ञा है, ऐसा समर्थ वचन देते हैं... आज की भाषा में कहें तो "गारंटी" !!

मन, मन की चंचलता, मन के कल्पना-तरंग, मन की अस्थिरता, मन की दोलायमान अवस्था, मन की एकाग्रता, मन की विचार-शून्य अवस्था... ऐसे अनेक शब्द प्रयोग अध्यात्म शास्त्र का अध्ययन करते समय हमें मिलते हैं। ध्यान में बैठें या नाम स्मरण में एकाग्रता साधने की कोशिश करें, तो विचारों में इतना बह जाते हैं कि ध्यान एक तरफ रह जाता है और अंत में कोई संतोष भी नहीं मिलता। ऐसे अशांत मन को एकाग्र करना कितना कठिन है! और अगर किसी तरह मन एकाग्र हो भी गया, तो आगे चलकर आध्यात्मिक श्रवण करना हमें और भी कठिन लगने लगता है। यह कैसे संभव हो - यही मुख्य अड़चन होती है।

दासबोध में इस पर समर्थ रामदास ने हमारे लिए एक मार्ग बताया है, और वह ऐसा है:

आपण वस्तु सिद्धचि आहे | मन मी ऐसें कल्पू नये | साधु सांगती उपाये | तूंचि आत्मा ||(८/१०/७५)

अर्थ: तुम्हारा स्वरूप तो पहले से ही सिद्ध (पूर्ण) है। 'मैं मन हूँ' ऐसा नहीं सोचना चाहिए। संत उपाय बताते हैं कि - तुम स्वयं आत्मस्वरूप हो।

निसर्गदत्त महाराज मार्गदर्शन करते हुए कहते हैं:

'मन' – केवल दो अक्षर जीवमात्र को चक्करें खिलाते रहते हैं। मन ही कल्पना है और कल्पना ही मन है। कल्पना को जो पसंद आता है, वही वह जन्म देती है। यह पूरा मनोराज्य मन का ही है। सभी विषयों का सृजन कर्ता मन ही है।

आप अकेले आराम कुर्सी पर पड़े हों, तब भी - जो भी सूझता है, वही सूझता है... आराम लेने का समय तो चला गया। जो कुछ भी सूझता है, उसी में मन रम जाता है। उसमें झगड़े हों, कोई अमुक तमुक विचार आए... सब चलता रहता है। दूसरा कहता है - "मैं आराम कर रहा हूँ।" किस तरह का आराम? उसका मन जो कहता है,

उसी में वह डूबा हुआ है। क्या आपको ऐसे अनुभव नहीं हुए?

मन को विश्राम मिलने तक आपको नींद नहीं आती, न आराम मिलता है। नींद में मन नहीं होता - केवल प्राण रहता है। जब मन सक्रिय होता है, तब मन नामक दृश्य उभरता है। इसे आप स्वप्न कहते हैं। स्वप्न मन का अवतार है। स्वप्न देखने पर आपका मन ही जागृत दिखाई देता है। इसी तरह, यह जगत् भी जागृति में मन का अवतार है। आप मन पर आश्रित रहते हैं और कहते हैं – "मन नियंत्रण में नहीं आता।"

देह प्राण के कारण है, और मन भी प्राण के कारण है। श्वास-प्रश्वास का जो अनुभव होता है, उसे ही मन कहते हैं। जब तक श्वास चलती है, तब तक कुछ न कुछ विचार प्रवाहित होते ही रहते हैं – वही मन है। सारे विषय मन में ही विद्यमान हैं। जिसके पास मन नहीं है, उसके पास विषय क्या हैं? विषय का अर्थ है – "यह याद आया, वह याद आया; यह चाहिए, वह चाहिए।" यही मन के विभिन्न विचार हैं।

अन्नरस (पोषण) की गुणधर्म में जो अनुभव होता है, वह मन है। मन प्राण का नाम है। अहंभाव और अहंकार भी प्राण की ही संज्ञाएँ हैं। प्राण की क्रिया ही मन है। प्राण न होते तो क्या मन होता? – नहीं! जब शरीर खराब होता है, या बीमारी आती है, प्राण चला जाता है; प्राण चला गया तो मन भी चला जाता है। मन वहीं है जहां प्राण; प्राण वहीं है जहां गुण। जब मन को समझ लिया जाता है, तब प्राण का विसर्जन होता है। जब आप शरीररूप में होते हैं, तब "मैं हूँ" ऐसा अनुभव होता है और उसी अनुभव से "म्हण" – यानी मन – उत्पन्न होता है। अन्न, प्राण, देह, मन – इनके केंद्र में आत्मरूप है, अर्थात् "मैं हूँ" यह अनुभव। जब धीरे-धीरे मन के अनुभव में आएगा कि आप आकाररहित हैं, तभी मन पर नियंत्रण होगा। मन के छंद को छोड़कर आत्मछंद अपनाइए। मन कभी पूर्णतः समाप्त नहीं होगा। लेकिन आपको करना क्या है – बस यह देखना है कि आप वास्तव में कौन हैं। मन की सलाह नहीं लेनी। मन चलता रहता है - चलता रहे! लेकिन ठान लें – **"मैं मन नहीं हूँ।"** आप कहते हैं – "मन के साथ बह जाता हूँ।" लेकिन क्या आपने कभी देखा है कि 'मैं हूँ' यह ज्ञान बह गया? आप पछाड़े जाते हैं – अर्थात् मन मन को पछाड़ता है। आप कौन हैं, और आपको क्या पछाड़ सकता है? आपका इसमें क्या संबंध है?

बच्चों की चिंता आप करते हैं या मन करता है? मन आपको पहचानता है या आप मन को पहचानते हैं? मन भूत-भविष्य बताता है, तो आप उसे 'मेरा' क्यों मानते हैं? जब तक देह है, तब तक आपकी पहचान है; इस पहचान को स्वीकार करने पर ही मन का अनुभव होता है।

ध्यान में मन एकाग्र नहीं होता, चाहे कुछ भी किया जाए, विचार रुकते नहीं। ठीक से नामस्मरण नहीं हो पाता। ऐसी कई शिकायतें होती हैं। निसर्गदत्त महाराज मार्ग बता रहे हैं कि "आप बस यह देखो कि तुम क्या हो। मन की सलाह मत लो। मन चलता रहेगा, रहने दो! तुम मन नहीं हो, यह पक्का करना है।" यही उपदेश समर्थ आत्माराम ग्रंथ में भी दिया गया है।

अरे तू कोण ? कोणाचा ? कोठोनी आलास कैचा ? | ऐसा विचार पूर्वीचा | घेई बापा || (आ. १/२५).

(अरे, तुम कौन हो? किसके हो? कहाँ से आए हो, क्यों आए हो? ऐसे विचार पहले आते थे।)

इस उपदेश के कारण मन में उत्पन्न या उत्पन्न होने वाले अन्य विचार साधक किनारे रखकर 'हम कौन हैं?' इस प्रश्न पर स्थिर होने लगता है। फिर अगले समास में समर्थ उसे एक और पायदान आगे ले जाते हैं और 'माया' तथा उसके घेरे हुए भ्रमपूर्ण रूप का वास्तविक स्वरूप दिखाते हैं। जन्मभर हम प्रत्येक व्यक्ति जब बोलते हैं या कर्म करते हैं, तो स्वयं के लिए 'मैं' कहते हैं। वह 'मैं' अर्थात अहं, जो प्रत्येक में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है, इसलिए वह कह सकता है। लेकिन जब यह स्पष्ट किया जाता है कि वह स्फुरण मूलतः मायामय है, तो समर्थ कहते हैं: **अहं ऐसे जे स्फुरण | तेंचिं मायेचें लक्षण | तये मायेपासून त्रिगुण | गुणापासून भूतें || (आ.२/११)** इतना ही नहीं, बल्कि संपूर्ण आत्माराम ग्रंथ में सबसे अधिक ओवी (४३) समर्थ ने 'माया विवरण' करने के लिए इस्तेमाल की हैं। इससे ही यह स्पष्ट होता है कि 'माया' और उसका प्रभाव कितना बड़ा है।

निसर्गदत्त महाराज के अनेक निरूपणों से हम 'माया विवरण' को संक्षेप में इस प्रकार देख सकते हैं:

> माया का अर्थ है वह जो नहीं है। वह निश्चितता जो किसी न हुई घटना को हुई मानकर मन में ठान ली जाती है। यह सब मन की कहानी है। कल्पना ही माया है। यह है, दिखती है, प्रतीत होती है, समझ आती है, लेकिन स्थायी नहीं रहती-यही माया है।
>
> 'माया' शब्द का अर्थ है "नहीं है वह।" यह भ्रम या भूल है। जो नहीं है, उसे है मान लेना। जो है, उस ओर ध्यान न देना। दिखाई देता है-लेकिन टिकता नहीं। दृश्य बनते और बिगड़ते रहते हैं। स्थायी कुछ भी नहीं।

इसलिए इसे माया कहा जाता है। वास्तविकता में माया कुछ भी नहीं है। यह जीव को देह का अभिमान लेकर संसार में कार्य करने पर मजबूर करती है।

क्या तुम्हें जन्म का ज्ञान है? क्या इस जगत में तुम्हें जन्म की वास्तविक जानकारी है? नहीं। अनजाने में हम 'देह मेरा रूप है' ऐसा मान लेते हैं। इसे भ्रम, माया कहते हैं।

भूल के बिना कोई किसी को ठग नहीं सकता। चाहे पुरुष हो या स्त्री, चोर हो या डाकू, जादूगर हो या कोई और। पहले भ्रम फैलाएगा, फिर ठगेगा। आज की दुनिया में लाखों लोग दूसरों को ठग रहे हैं। उनका जीवन बर्बाद कर रहे हैं। यही अज्ञान है – माया। पहले भ्रम फैलाती है, और भ्रम फैलाने के बाद ठगती है।

माया से यह सब उत्पन्न हुआ। माया से कोई भी अलग नहीं है। माया ने सब कुछ व्याप्त कर रखा है। आत्माराम ग्रंथ में समर्थ ने 'माया विवरण' को संक्षेप में फिर से बताया है।

माया का अर्थ है मूलतः नाशवान – जो कुछ भी है वह कभी टिकने वाला नहीं है, उसका नाश निश्चित है। पंचभूत, संपूर्ण सृष्टि – सब कुछ अदृश्य है, ऐसी माया है। वही प्रकृति पुरुष रूप में कार्य करती है। वही ज्ञाता, वही ज्ञान और वही ज्ञेय है। वही ध्यान, वही ध्येय, वही ध्याता है। वही निजबोध, वही आत्मा, वही ब्रह्म और वही हमारा वास्तविक स्वरूप है। विश्व को व्यापी माया ही जीव है, वही शिव है, वही ईश्वर है; इसी से सम्पूर्ण दृश्य अनुभव होता है और इसी के कारण पंचमहाभूत ज्ञात होते हैं।

माया का अर्थ है भ्रम, नाशवान, कुछ भी स्थायी नहीं, सब काल्पनिक है – ऐसा सुनकर और साथ ही यह समझकर कि समग्र रूप से सब कुछ माया से व्याप्त है, किसी को थोड़ा भ्रमित होना स्वाभाविक है। आत्माराम ग्रंथ में शिष्यों ने यही स्थिति समर्थ के सामने व्यक्त की।

"सकळ माया ऐसेही म्हणता | आणि झालीच नाही ऐसेही सांगता | तरी म्या काय करावे आता | सांगा स्वामी ||(२/२६)"

(संपूर्ण माया "ऐसे ही है" कहती है और "हो ही नहीं सकता" भी कहती है। तो अब मैं क्या करूँ, स्वामी, कृपया बताइए।)

समर्थ उसके भ्रमित मन को धैर्य देते हुए कहते हैं:

अरे ! मनासी जे जे अनुभवले | ते ते मायिक नाथिले | तितुके तुवा टाकिले | पाहिजे स्वानुभवे ||(२/२८)

(अरे! मन ने जो-जो अनुभव किए, वे सब मायिक (माया के) नहीं थे। उसी अनुसार तूने प्रतिक्रिया दी। आवश्यक है स्वअनुभव।)

इसके लिए शिष्य को कौन-सी युक्ति अपनानी चाहिए, यह भी वे बताते हैं:

येवं सांगतो ते ऐकावे | माईक मायेने जाणावे | आता मनन करावे | सावध होऊनी ||(२/२९)

(जैसा कहा जा रहा है, वैसा सुनना चाहिए। मायिक माया से अनुभव करना चाहिए। अब मनन करना है, सावधानीपूर्वक।)

यहाँ समर्थ एक उदाहरण देते हैं:

का त्या कोवडीयांच्या कडीया | गुंतगुंतोनि उगवाव्या | तैसी जाण हे माया | गुंतोनी उगवावी ||((३/३०)

(जैसे आपस में फसी हुई चेन उलझ उलझ कर ही सीधी हो सकती है, उसी प्रकार माया में रहकर हि माया से बाहर आ सकते है।)

सारांश: यदि माया से मुक्ति पाना है, तो माया में ही लिप्त रहकर उसे पार करना पड़ता है। इसके लिए विवेक की कुंजी का उपयोग करना आवश्यक है, ऐसा समर्थ कहते हैं। वर्म हेचि माया मायिक | याचा करावा विवेक | विवेक केलीया अनेक | येकी मुरे ||(३/३३)-(यही माया मायिक है। इसका समाधान विवेक से करना चाहिए। विवेक करने पर कई भ्रम मिट जाते हैं)

निसर्गदत्त महाराज :

स्व-स्मरण का अर्थ है चेतना की कला, जागरूकता की कला, और रिश्ते में अपनापन। आज जिस स्मृति के साथ आप हैं, वह स्मृति कभी स्थायी नहीं रहेगी। शरीर समाप्त होने पर वह भी समाप्त हो जाएगी। "मैं हूँ" यह चेतना ही परमात्मा है, यही माया है। माया का अर्थ है ईश्वर की शक्ति। ईश्वर के जितने नाम हैं; वे सभी "हम हैं" की चेतना के ही नाम हैं! माया का अर्थ है

गुण। प्राणीमात्र को जो अनुभव होता है, वही माया है। माया आत्म-प्रेम है। अनंत नाम माया के ही हैं। इसे ही ईश्वर का स्थान प्राप्त है। निर्विकल्प स्थिति में जब कल्पना उत्पन्न हुई, वही माया है। दृष्टि में दृश्यमान में "हम" होने की चेतना। अदृश्य में अदृश्य भी "हम" होने की चेतना।

"मैं शरीर हूँ" यह केवल अज्ञान से कहा गया है। अज्ञान भ्रम है। भ्रम का अर्थ है भ्रमित होना; यह कि शरीर ही हमारा स्वरूप है, यही माया है। कोई भी शरीर अंततः क्षीण होकर नष्ट हो जाता है, इसलिए उसे 'मायावी' कहा जाता है। मायावी का अर्थ है स्थायी नहीं।

पंचभूत और त्रिगुण ये सभी चेतना से उत्पन्न होते हैं, यह ज्ञान होना चाहिए। चेतना का अर्थ है अखंड ब्रह्मांड। यदि भोजन है तो प्राण है, और यदि प्राण है तो गुण हैं। इन गुणों को प्रकृति-पुरुष के नाम मिले हैं। जगत और उसके अनुभव भी हम हैं। अब जो अनुभव हम अपने होने के रूप में प्राप्त कर रहे हैं, वह सभी प्रकृति का है। पुरुष केवल द्रष्टा है। क्रियाओं में उसका कोई हिस्सा नहीं है।

हमारे होने की स्मृति दो रूपों में प्रकट होती है: प्रकृति-पुरुष। यदि प्रकृति-पुरुष व्यवहार न करें तो स्मृति उपलब्ध नहीं होगी। जब हमारे होने की स्मृति नहीं थी और अब वह है, इसके परे आपके पास और क्या है! स्मृति वही ज्ञान है। ज्ञान वही ध्यान है। ध्यान वही हम हैं। हम वही विश्राम हैं। पहले वृत्तियों (मन की प्रवृत्तियों) को निवृत्त होना चाहिए। फिर स्वरूप की प्राप्ति होती है।

आत्माराम ग्रंथ का समापन के रूप मे समर्थ रामदास स्वामीजी ने स्वरूपज्ञान प्राप्ति के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा: बहुत जन्मों के अंत में स्वरूप से ही मुलाकात होती है। एक भावार्थ के लिए परमब्रह्म से जुड़ाव होता है। वेदों और उपनिषदों का सार यह है कि यह हमारा स्वयंभू स्वरूप है; यही परमात्मा है। ऐसा ज्ञान जो किसी को प्राप्त होता है, वह परम भाग्यशाली होता है। उनका भाग्य जाग उठता है। उनका अज्ञान रूपी बंधन टूट जाता है। सद्गुरु की कृपा से, सर्वसाक्षी तुर्यावस्था के भी परे जो ज्ञानरूप उपलब्ध होता है, उसे प्राप्त करके साधक निस्संदेह हो जाता है। निस्संदेह ऐसा होता है अंतरात्मा सद्गुरु चरणों में। (५/२८)

"आत्माराम" ग्रंथ के अंतिम, यानी पाँचवें अध्याय में, माया के निवारण के बाद

संदेह रहित शिष्य मुख्य ज्ञान का अनुभव करता है। वह प्रत्यक्ष अनुभव करता है कि "परमात्मा वही तू है" और वह कृतकृत्य (कृतज्ञ) हो जाता है। वह कहता है कि उसके जन्म की सार्थकता सिद्ध हुई।

जब माया के कारण वह भ्रमित था और स्वयं को मृत्यु-प्राप्त होने वाली सामान्य जाति का व्यक्ति मानता था, तब सद्गुरु के उपदेश से उसे अपने स्वरूप का भान हुआ। वह तत्क्षण अनुभव करता है कि वह स्वयं पूरे विश्व में व्याप्त है, निर्गुण और निराकार परमात्मा के रूप में है।

वह समझता है कि हम क्रियाओं को करते हुए भी अकर्ता हैं, सब कुछ अपने आप ही हो रहा है, और समस्त भूतों में भी हम ही समाए हैं। अब गुरु और शिष्य में भी कोई भेद नहीं बचा। यह निश्चित अनुभव स्वरूपज्ञान से शिष्य को होता है।

स्वरूपज्ञानी संत श्री निसर्गदत्त महाराज इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं:

शरीर के बंधन के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध-इन पाँच प्रकार के अनुभव और क्रियाओं के प्रत्येक क्षण पर बंधन लगता रहता है। यह बंधन कब तक रहेगा? जब तक शरीर को हम अपनी असली पहचान मानते रहेंगे। लेकिन जिस क्षण किसी को यह ध्यान आता है कि शरीर "स्वरूप" नहीं है, हमारा वास्तविक रूप नहीं है, उसी क्षण जैसे शीशा फट जाता है, वैसे उसके सभी बंधन टूटे हुए प्रतीत होते हैं।

जो व्यक्ति यह समझता है कि हमारी वर्तमान उपस्थिति केवल एक अस्थायी अवस्था है, वह अब अस्थायी नहीं रह जाता। आनंद एक गुण है और गुण जातिविहीन होकर निर्गुण है। उसने सुखपूर्वक संसार का व्यवहार किया, लेकिन उसका वास्तविक स्वभाव क्या है? निर्गुण। आत्मस्वरूप पहले से मौजूद है। इसके उच्चारण की उपमा सृष्टि है। निर्गुण प्रत्येक का स्वभाव है। यह उस परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान है। हमारे शरीर में जो गुण हैं-"सगुण ब्रह्म"-स्वयं होने का ज्ञान ही वह हरी, भगवान है। इस श्रद्धा को धीरे-धीरे आत्मसात कर लेने वाला व्यक्ति शरीर के भीतर रहते हुए भी शरीर से परे, गुणों में रहते हुए भी निर्गुण और पुरुष रूप में रहते हुए निर्वाण में होता है।

ज्ञाता- ज्ञानमय, कायामय, जगमय रहते हुए भी निर्गुण है। सगुण या निर्गुण केवल स्वरूप है। ज्ञान ने ज्ञान को पहचाना और तुरंत विज्ञान हुआ। गुण भी निर्गुण हो गया। गुण के गुणत्व को छोड़कर गुण स्वयं निर्गुण हो

जाता है-यह ज्ञाता को स्पष्ट दिखाई देता है। कैसे? जब आप आंखें बंद करके बैठे हैं, यह आपको कैसे पता चलता है? आत्मज्ञान से। शरीर रहते हुए भी जब ज्ञान का विज्ञान हुआ, इसका मतलब है कि शरीर हम नहीं हैं, और ज्ञान भी हम नहीं हैं।

गुणों का प्रकट होना और उनका व्यवहार बहुत होता है, लेकिन आत्मज्ञान के बाद वह निर्गुण बन जाता है। जयगुरु कहकर जो गुण शुद्ध और पवित्र होता है, वह निर्गुण हो जाता है। कृष्ण ने भी बहुत व्यवहार किया, लेकिन गुण का उसका स्पर्श नहीं हुआ। जीवन में व्यवहार करते हुए निर्गुण होना कौन कहेगा? निर्वाण वह नमूना है जिसका कोई रह नहीं। गुण का अभाव ही निर्वाण है। आपके किसी भी कर्म का आकाश को स्पर्श हो सकता है, लेकिन निर्गुण को नहीं।

विनागुण सत्त्व को हम हैं, यह ज्ञान नहीं। गुण का उद्भव, स्थिति और लय जो जानता है, उसने वाचा बंद कर दी। जहां चेतना या ज्ञान विराम पाती है, वही परमात्मा स्वरूप है। उसे काल का नियम नहीं है। स्वरूपदर्शन के बाद अहंकार का कोई अवशेष नहीं रहता।

जिसे आत्मज्ञान प्राप्त है, उसे संसार में कोई भिन्नता नहीं दिखाई देती; उसे अनुभव होता है कि उसका स्वरूप सर्वत्र परिपूर्ण रूप से भरा है। "स्व" ही ज्ञान है। भेद शून्य हुआ। जो भेद दिखाई देता था, वह भेदशून्य हुआ। स्वरूप का अनुभव हुआ कि हम ही हैं। इसमें त्रिपुटी (त्रिकोणीय विभाजन) नहीं है। केवल द्रष्टा है। प्रत्येक प्राणी के लिए "मैं हूँ" की चेतना ईश्वर की विभूति है। यह प्रकाशरूप में हमें स्वयं का अनुभव कराता है। यह सिर्फ प्रकाश नहीं, बल्कि ज्ञानप्रकाश है। चित्प्रकाश है। केवल शुद्ध आत्मस्वरूप है। जो शरीर को हिलाता, चलाता, गति देता है, वह हमारा रूप है। उसे पहचानने के लिए नाम देना पड़ा-फिर नाम रखा गया: "परमात्मा"। लेकिन परमात्मा कौन है? जो समझे कि वह हर जगह मौजूद है, वही परमात्मा है। वह हर जगह काम करता है, लेकिन किसी भी काम का वह बंदी नहीं, गर्व और अहंकार से परे है। वह सब कुछ जानता है, लेकिन किसी चेतना का बंधन नहीं है।

जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तब तक आप किसी की निंदा कर सकते हैं। ज्ञान घनिष्ठ होने पर दया काम करती है। ज्ञानी केवल दया पर आधारित

होता है। ज्ञानी किसी से प्रतिस्पर्धा नहीं करता, इसलिए उसे निंदा, द्वेष या ईर्ष्या नहीं होती। आत्मस्वभाव को जाने बिना संत की सेवा कुछ नहीं कर सकती।

यदि सद्गुरु भक्त एकनिष्ठ है, तो अंतर्यामी में वह पूर्ण होता है। वह स्वयं सद्गुरु का स्वरूप बन जाता है। यहां आत्म निश्चय की आवश्यकता है। परमात्मा स्वरूप का पूर्ण ज्ञान ही इसे पूरा करता है। अहंकार को कल्पित पुरुष मान लिया, तो बंधन नहीं, और इसलिए मोक्ष भी नहीं। जो है, वह सब परमात्मा स्वरूप ही है-ऐसी अनुभूति आती है। आकाश जिसे दिखता है वो आकाश से पहले है, फिर उसे बंधन कैसा होगा? उसे मल कैसे लगेगा? बिना किसी क्रिया के सहज रूप में जो है, वही वास्तविक स्वरूप है। इसमें बुद्धि कल्पना नहीं है। स्वरूप ज्ञान के बाद यह सहज अवस्था होती है।

– अनिल चुबे
ठाणे
९८१९२१४६६१

प्रसन्नता ही जीवन का अर्थ और मकसद होता है,
जीवन का सम्पूर्ण लक्ष्य और मानव अस्तित्व।

– अरस्तु

"सद्गुरू वचनावर अचळ, अढळ विश्वास ठेवा. त्याच्याचे सर्व उघड होईल.
गुरू किंवा देव व्यक्ती नव्हे, हे एक अगोदर लक्षात ठेवा.
गुरू व्यक्तीसारखा दिसतो, पण तो व्यक्ती नव्हे, गुरू किंवा देव
व्यक्तीरूप मानतात त्यांना पूर्ण समाधान मिळणार नाही.
गुरूवचनापेक्षा काहीही झालं तरी ते फार हीन दर्जाचं आहे.
मग साक्षात श्रीविष्णू , मी त्रैलोक्यनायक विष्णू आहे म्हणून जरी उभे
राहिलेत तरी कस्पटास्पद आहेत. ज्याने गुरूवचन पाळले तोच संत,
तोच स्वयें आत बाहेर राबतो, गुरूवचन, संतवचन श्रेष्ठ आहे.
ज्यांनी संत वचन पाळलं, तेच संत झाले."

-सद्गुरू श्रीनिसर्गदत्त महाराज